शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

नवम्बर : १९६४ ☆ वर्ष २० वाँ, कार्तिक, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ६

सम्यक्त्वी का अनुभव

★

जिस चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति होने से विकल्प नष्ट हो जाते हैं और परमानंद की अनुभूति प्रगट होती है—उस चैतन्यतत्त्व को नमस्कार करो! राग की ओर-विकल्पों की ओर न झुककर चिदानंद तत्त्व का बहुमान करो और उसी ओर उन्मुख होओ!—यही विकल्पों को जीतकर विजय प्राप्त करने की रीति है। यहाँ मुनि की मुख्यता से संबोधन किया है। यह बात निचलीदशा में भी सभी सम्यक्त्वियों को लागू होती है। विकल्पों से पार होकर चैतन्यतत्त्व का अनुभव करने पर ही सम्यग्दर्शन होता है। सर्व सम्यग्दृष्टियों के अंतर में ऐसा अनुभव होता ही है।

[पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२३४]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) तीसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांत पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़नेयोग्य है, पत्र संख्या ९००, मूल्य लागत से बहुत कम मात्र ५) रखा गया है। पोस्टेज आदि अलग।

लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका (चतुर्थ आवृत्ति)

१८००० बुक छपकर बिक चुकी हैं, समाज में धर्म जिज्ञासा का यह नाप है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये यह उत्तम मार्ग दर्शक प्रवेशिका है। जैन जैनेतर सभी जिज्ञासुओं में नि:संकोच बांटने योग्य है। इंगलिश भाषा में भी अनुवाद कराने योग्य है। जिसमें अत्यंत स्पष्ट सुगम शैली से मूलभूत अति आवश्यकीय बातों का ज्ञान कराया गया है। बढ़िया कागज, छपाई, सुंदर आकार पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य-सिर्फ २५ नये पैसे, पोस्टेजादि अलग।

पता:—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

नवम्बर : १९६४ ☆ वर्ष २० वाँ, कार्तिक, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ६

रत्नवृष्टि

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव के अवसर पर जोरावरनगर (सौराष्ट्र) में पूज्य स्वामीजी के मुख से जो अमृतमयी रत्नवृष्टि हुई थी, उसमें से चुने हुए १०१ रत्न यहाँ दिये जा रहे हैं।

१—आत्मा चैतन्यानंद का स्रोत है, उसकी निकटता में ज्ञान-आनंद की धारा बहती है। राग की धारा तो चैतन्य से दूर है। भाई, तेरी शांति की तृषा को शांत करे, ऐसा चैतन्य प्रवाह तो तेरे निकट ही है। राग का प्रवाह दूर है, उसमें तेरी तृषा शांत करने की शक्ति नहीं है।

२—भाई, तेरा स्वच्छ चैतन्य-स्रोत जिसमें से आनंद की धारा बहती है, उसमें राग के रंग नहीं हैं। चैतन्य की निर्मलता में राग के रंग नहीं हैं।

३—चैतन्यस्वरूप आत्मा क्या है और राग क्या है, उसकी भिन्नता का निर्णय, वह निर्वाण का मार्ग है।

४—जिसने अंतरवेदन से राग और चैतन्य के स्वाद का भेद किया, उसने राग के कर्तृत्वरूप अज्ञान भूमिका छोड़कर चैतन्य के आनंदमय ज्ञान भूमिका में प्रवेश किया।

५—चिदानंद तत्त्व की प्रतीति होने से धर्मात्मा को राग की ओर का पक्षघात दूर हुआ (उसका पक्ष छूट गया है) और चैतन्यस्वभाव की ओर का पक्षपात हुआ है, परिणति उस ओर उन्मुख हुई है।

६—अरे चैतन्य! तुझे अपने अंतर के आनंद का स्वाद न आये और तू अकेले विकार के

विष का स्वाद लेता रहे तो ऐसा मनुष्यभव पाकर तूने क्या किया ?

७—जहाँ अंतर में राग से भिन्न चैतन्य का स्वाद आया, वहाँ ज्ञान की धारा विभाव से मुड़कर ज्ञान की ओर ढल गई, क्षणभर में उस धर्मात्मा का लक्ष बदल गया, पक्ष बदल गया, परिणमन की दिशा बदल गई, बहिर्मुख दिशा पलटकर अंतर्मुख हो गई; स्वभाव का लक्ष हुआ और विकार का पक्ष छूट गया।

८—ऐसा सम्यक् आत्मभान स्वर्ग के देव कर सकते हैं, नरक के नारकी भी कर सकते हैं, अरे! तिर्यंच-पशु भी कर सकते हैं; तो मनुष्य कर सकें, इसमें आश्चर्य क्या!

९-अनादि काल से अज्ञानदशा में विकार के साथ मित्रता थी, उसकी प्रतीति थी, किंतु सम्यग्ज्ञान होने पर विकार के साथ की मित्रता टूट गई और स्वभाव के साथ संबंध हुआ; स्वभाव की प्रीति हुई और विकार की प्रीति टूट गई।

१०—सम्यग्ज्ञान में और विकार में मेल नहीं है अर्थात् कर्ताकर्मरूप एकता का संबंध उनमें नहीं है। सम्यग्ज्ञान को तो चैतन्य के आनंदादि अनंत गुणों के साथ मेल है।

११—अरे आत्मा! तेरे चैतन्यधाम में अनंत गुणों सहित तेरी प्रभुता भरी है। निर्मल ज्ञान द्वारा उसकी प्रीति कर... निर्मल ज्ञान द्वारा उसका स्वानुभव कर। ऐसा स्वानुभव होने से आत्मा में धर्म का अवतार होता है, अपूर्व तीर्थ का आरम्भ होता है।

१२—पर्वत समान चैतन्यप्रभुता अंतर में विद्यमान है, किंतु तृष्णसमान तुच्छ विकार के समक्ष उस प्रभुता का पर्वत अज्ञानी को दिखायी नहीं देता। ज्ञानदृष्टि से अंतर में देखे तो प्रभु अपने से विलग नहीं हैं, अपने में ही अपनी प्रभुता भरी है।

१३—अनादि से आत्मस्वभाव को भूलकर राग से चैतन्यनिधान को मिथ्यात्व के तालों में बंद कर रखा था, वे ताले भेदज्ञान के उपदेश द्वारा श्रीगुरु ने खोल दिये, वहाँ चिदानंद की त्रिवेणी (श्रद्धा-ज्ञान-आनंद की त्रिवेणी) मिल गई... अब आत्मा मोक्ष के मार्ग पर लग गया... अब उसे बंधन नहीं होता... वह बंधभाव से पृथक् का पृथक् ही रहता है।

१४—जो अनंत तीर्थंकर हुए, हो रहे हैं और होंगे, वे दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को राग से भिन्न जानकर उसकी भावना भाते थे।

१५—सम्यग्दर्शनसहित चैतन्य में लीन होकर पूर्ण परमात्मदशा की ऐसी भावना भाते थे कि—

अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे?
क्यारे थईशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो;
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कब महत् पुरुषने पंथ जो।

१६—अहो, महत् पुरुष ऐसे सिद्ध भगवंतों और तीर्थंकरों ने जिस मार्ग पर विचरण किया, उस मार्ग पर हम भी विचरें—ऐसा धन्य अवसर कब आयेगा?—ऐसी भावना तीर्थंकर भी गृहस्थदशा में भाते थे।

१७—जन्म-मरण के दु:खों से भयभीत होकर चैतन्य के अमृत की भावना भाते-भाते तीर्थंकर भी संसार छोड़कर चैतन्य की साधना के लिये वन में चल दिये।

१८—अमृत के अनुभवरूप दीक्षा अंगीकार करके आज भगवान महावीर ने संसार के रागरूपी बंधन को तोड़ डाला।

१९—अरे, यह जो रागादिभाव हैं, सो हम नहीं हैं; हम तो शुद्ध चैतन्यसिन्धु हैं, उसमें लीन होकर अतीन्द्रिय आनंद की मौजें उछालेंगे। ऐसी धन्य दशा की भावना भगवान भाते थे, और आज भगवान ने ऐसी दशा प्रगट की।

२०—भगवान ने मुनि होकर क्या किया? भगवान तो कारणपरमात्मा का ध्यान धरते थे। परमात्मदशारूप जो मोक्ष कार्य, उसके कारणरूप ऐसा जो चिदानंदस्वभाव उसका ध्यान भगवान धरते थे।

२१—भगवान महावीर पहले से ही बाल ब्रह्मचारी थे; स्त्री के राग का बंधन उनके था ही नहीं। माता-पिता के राग को भी तोड़कर भगवान आज मुनि हुए और मुनिदशा में १२ वर्ष तक भगवान ने आत्मध्यान किया। आत्मलगन में आहारादि की वृत्ति छूट गई और चैतन्यस्वरूप में ही प्रतापवंत रहा, उसका नाम तप कहा जाता है।

२२—कैसी थी मुनिपने में भगवान की परिणति?—तो कहते हैं:—

रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी;
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो।

आत्मा के परमात्मस्वभाव की भावना करते-करते भगवान रागदशा को लाँघ गये। शुभराग के कण को छोड़कर भगवान अप्रमत्त आत्म-ध्यान में लीन होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद में लीन हुए, तब उनके एक साथ सातवाँ गुणस्थान और मन:पर्यायज्ञान प्रगट हुआ।

२३—अकषायी चिदानंदस्वरूप को साधते-साधते भगवान ऐसी भावनारूप परिणमित हो गये हैं कि—

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध स्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
माया प्रत्येक माया साक्षीभावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो।

क्रोध-मान-माया-लोभ से परे चिदानंद तत्त्व के शांत रस के वेदन में भगवान लीन हो गये।—इसी को मुनिदशा कहते हैं।

२४—मुनिदशा में झूलते हुए भगवान जगत से उदासीन हुए हैं। क्रोधादि हमारे स्वभाव में नहीं हैं; हम तो क्षमा के और शांतरस के भंडार हैं। हम उपसर्ग और परीषह को साक्षीभाव से सहन करने को तैयार हुए हैं—ऐसी दशा भगवान को वर्तती थी।

२५—अरे, केवलज्ञान के सम्मुख हम तुच्छ हैं, किंतु हम दीन नहीं हैं, हम तो चैतन्य के साधक संत हैं—मुनि हैं। जगत की अनुकूलता या प्रतिकूलता के प्रति राग-द्वेष करना हमारे स्वभाव में नहीं हैं। अपना कारणपरमात्मा ही हमारा अवलंबन है; उसी के अवलंबन से हमारी परमात्मदशा प्रगट होगी।

२६—भगवान की मुनिदशा कैसी थी?—उसकी भावना भाते हुए गुरुदेव दीक्षावन में अत्यंत वैराग्य-मग्न होकर कहते हैं:—

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि,
वंदे चक्री तथापि न मले मान जो।
देह जाय पण माया थाय न रोम मां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो॥

अहो! ऐसी मुनिदशा की भावना भाने योग्य है।

२७—पुनश्च, उस धन्य दशा की भावना को उत्कृष्टरूप से प्रगट करते हुए गुरुदेव कहते हैं—

अेकाकी विचरतो वली स्मशान मां,
वली पर्वतमां सिंह बाघ संयोग जो;

अडोल आसन ने मनमां नहिं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।

२८—अरे, ऐसे आत्मध्यान में कब मग्न होंगे? चैतन्यानंद के अमृतकुंड में कब लीन होंगे? शांतिनाथ आदि तीर्थंकर, चक्रवर्ती के वैभव में रहते हुए भी ऐसी भावना भाते थे।

२९—पश्चात् भगवान को वैराग्य होने पर जब दीक्षा लेते हैं और रानियाँ विलाप करती हैं, तब भगवान कहते हैं कि—हे रानियों! मैं अपने राग के कारण यहाँ रुका था; अब मेरा वह राग मर गया है, अब मैं किसी के बंधन में नहीं रहूँगा। अरे, रानियों! तुम्हारे राग पूर्ण विलाप मुझे पिघला नहीं सकेंगे—रोक नहीं सकेंगे।

३०—चैतन्य के आनंद में लीन होता हुआ आत्मा जहाँ वैराग्य से उल्लसित हुआ, वहाँ जगत के परीषहों की प्रतिकूलता उसे जला नहीं सकती, और अनुकूलता के समूह उसे गला नहीं सकते।

३१—महावीर भगवान तो बाल ब्रह्मचारी थे।

दीक्षा के समय जब उनकी माता को आघात लगता है, तब कहते हैं कि—हे माता! आप आज्ञा दो! आप पुत्र का मोह छोड़ दो! इस संसार में कौन पुत्र और कौन माता! हम तो अपनी शुद्ध परिणतिरूपी माता के पास जायेंगे और केवलज्ञानरूप पुत्र बनेंगे! फिर तो माता भी आज्ञा देती है कि—हे पुत्र! धन्य है तेरा अवतार और धन्य है तेरी भावना!! तीर्थंकर होकर जगत का उद्धार करने के लिये ही तेरा जन्म हुआ है।

३२—भगवान महावीर ने आज अस्थिरता का राग तोड़कर चिदानंदस्वरूप में लीनतारूप मुनिदशा प्रगट की।

३३—भगवान तीर्थंकर परमात्मा वर्तमान में महाविदेह में साक्षात् विराजमान हैं। उनकी सभा में गणधर बैठते हैं, वहाँ संतों और मुनियों की टोलियाँ हैं और भगवान की वाणी में धर्म का स्रोत बहता है।

३४—भगवान ने क्या कहा? ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की ओर उन्मुख होने को भगवान ने कहा है। इसके अतिरिक्त जीव अन्य सब कुछ अनंतबार कर चुका है, किंतु उन राग की क्रियाओं से किंचित् कल्याण नहीं हुआ।

३५—जिसे भव का भय लगा है, ऐसा जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! भवभ्रमण के

कारणरूप यह अज्ञान कैसे दूर हो? ऐसे शिष्य को आचार्यदेव ने भेदज्ञान की अपूर्व बात समझायी है।

३६—देखो भाई! राग की बातें तो जगत में सर्वत्र सुनने को मिलती हैं, किंतु यहाँ भगवान की दुकान पर तो एक ही बात मिलेगी कि—आत्मा का मोक्ष कैसे हो?

३७—चैतन्य क्या और राग क्या?—उनकी भिन्नता की प्रतीति द्वारा जो सम्यक्त्व के अंकुर फूटे, वे बढ़कर पूर्णानंदमय परमात्मदशा हो जायेगी।

३८—राग में जागृतिभाव नहीं है, उसमें चैतन्य के स्वसंवेदन की शक्ति नहीं है, उस राग को रागरूप भी ज्ञान ही जानता है। ज्ञान जागृत है; ज्ञान में ही स्वसंवेदन की तथा स्व-पर को जानने की शक्ति है—ऐसा जानकर ज्ञान, ज्ञानरूप से परिणमित हुआ, वहाँ अज्ञान का नाश हो गया।

३९—राग को राग की भी खबर नहीं है और ज्ञान की भी खबर नहीं है। ज्ञान को ज्ञान की भी खबर है और राग को भी वह जानता है; इसलिये ज्ञान जागृतस्वरूप है और राग अजागृत-अचेतन है। उस राग की चैतन्यभाव से भिन्नता है। ऐसी प्रतीति द्वारा राग से पृथक् होकर ज्ञान का अनुभव लिया, वहाँ रागातीत अतीन्द्रिय चैतन्य का स्वाद आया अर्थात् भेदज्ञान हुआ और अज्ञान दूर हो गया।

४०—भाई, जीवन के बहुत वर्ष तो बीत गये और थोड़े से रह गये; उनमें यह बात समझकर आत्मा का कल्याण कर लेना चाहिये। अरे, छोटी उम्र में भी सबको पहले से यह करनेयोग्य है।

४१—संत करुणाबुद्धि से जगत् को समझा रहे हैं कि अरे आत्मा! पर में कर्तृत्व की तेरी बुद्धि ही दुःख की खानि है, वह पाप की खानि है। अरे, राग की वृत्ति भी दुःखरूप है, उसकी कर्तृत्वबुद्धि भी दुःख का मूल है। तुझे शांति और सम्यग्दर्शन की आवश्यकता हो तो पर से भिन्न और राग से पार ज्ञानतत्त्व अंतर में क्या है, उसे लक्ष में ले तो तेरे दुःख दूर होंगे और भव का अंत आ जायेगा।

४२—संसार भ्रमण से थककर जिस शिष्य ने संतों के निकट जाकर पुकार की, उस शिष्य को संत भव के अंत की बात समझाते हैं।

४३—भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनंद रस का कंद है, वह किसी राग का कारण नहीं है और न उसका कार्य ही है, इसलिये राग द्वारा चैतन्य का अनुभव नहीं होता; तथा चैतन्यतत्त्व सुख का सागर है और दुःख का अकारण है।

४४—संतों के हृदय की बात क्या है, उसका परिचय जीव ने कभी नहीं किया। अरे,

यथार्थबुद्धि से उसका श्रवण नहीं किया और कभी एकक्षण भी उसका अनुभव नहीं किया। प्रथम इस बात का निर्धार करने में भी अपूर्व पुरुषार्थ है। सम्यक् निर्धार, वह निर्वाण का मार्ग है।

४५—पश्चात् अनुभवदशा में तो वीतरागी समरस के झरने झरते हैं; आत्मा निर्विकल्प सुधारस का पान करता है। मुनिदशा में ऐसे आनन्दरस का अनुभव अत्यंत बढ़ गया है; वह तो मोक्ष की उग्र साधकदशा है।

४६—शुद्धता का पिंड आत्मा और अशुद्ध ऐसे रागादि भाव; सुख का पिंड आत्मा और दु:ख का कारण ऐसे रागादिभाव; चैतन्य के साथ एकाकार ऐसा आत्मा और चैतन्य से विपरीत ऐसे रागादि भाव, इन दोनों में अत्यंत भिन्नता है।

४७—आत्मा का और विकार का लक्षणभेद जानकर उन्हें पृथक् जानना चाहिये—किसप्रकार ?—तो कहते हैं कि आत्मस्वभाव की ओर ढलना और विकार भावों में एकत्वबुद्धि छोड़ना।

४८—प्रभु! यह तेरी प्रभुता की बात है। यह 'परमात्मपुराण' की वचनिका है, सात दिन तक परमात्मा का पारायण होगा।

४९—साधक भक्त कहते हैं कि—हे भगवान! आपके कहे हुए स्याद्वाद को मैंने अभी तक जाना नहीं था; किंतु अब उसकी प्रतीति होने पर विकार से भिन्न अपना चिदानंद तत्त्व मुझे भासित हुआ और उसकी रुचि हुई। आस्रव-बंधभावों को अपने से विपरीत विभावरूप समझकर अब उसकी रुचि मैंने छोड़ दी है।—इसप्रकार हे नाथ! आपके मार्ग की मुझे प्राप्ति हुई है।

५०—अज्ञानदशा में अपनी भूल, पर के ऊपर ढोलकर, दूसरों की भूल निकालकर मैंने घोर अपराध किया और अपने असली स्वभाव को तथा अपनी भूल को वास्तव में समझा ही नहीं, परन्तु हे प्रभो! अब आपके उपदेश से अपनी भूल मेरी समझ में आयी और मैंने अपना भूलरहित-विकाररहित त्रैकालिक स्वभाव देखा अर्थात् आपका कहा हुआ जैनधर्म क्या है, वह आज मैंने जाना।

५१—जैनधर्म कर्मवादी नहीं है किंतु आत्मवादी है; वह आत्मा की अनंतशक्ति बतलाकर, कर्म को आत्मा से भिन्न बतलाता है। कर्म है अवश्य, किंतु कर्म ही जीव को रागादि कराता है—यह बात जैनदर्शन में नहीं है।

५२—विकार स्वयं करता है और दोष कर्मों पर लगाता है, यानी स्वयं तो महंत रहना

चाहता है और अपनी भूल दूसरे पर डालता है तो वह महान अनीति है। जैनधर्म को समझ ले तो ऐसी अनीति की सम्भावना न रहे—ऐसा पंडित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक में कहते हैं।

५३—मैं ज्ञानानंदस्वरूप हूँ—ऐसा अभिप्राय जम जाये और 'रागादि मैं हूँ'—ऐसी तन्मयबुद्धि छूट जाये, उसका नाम भेदज्ञान है।

५४—उस भेदज्ञान के काल में आत्मा के परिणमन की दिशा पलट जाती है। जिसप्रकार कोई पुरुष अनजानरूप से किसी को स्त्री मानकर विकारभाव करता हो; किंतु जहाँ यथार्थ प्रतीति हुई कि अरे, यह तो मेरी माता है... मेरी जननी है! उसी क्षण विकारबुद्धि उड़ जाती है और माता के प्रति निर्विकार आदरभाव जागृत होता है। उसीप्रकार अज्ञानभाव से रागादि विकार को अपनी स्वपरिणति मानकर उसमें तन्मयता से प्रेम करता था, किंतु जहाँ भान हुआ कि अरे, मैं तो नित्य चैतन्य हूँ, यह राग मैं नहीं हूँ, उसी समय एकदम विकार के प्रति प्रेमबुद्धि छूट जाती है और चैतन्यस्वभाव के प्रति निर्विकार प्रेम तथा आदर जागृत होता है। इसप्रकार अभिप्राय बदलते ही परिणति की दिशा बदल जाती है। स्वभाव की ओर उन्मुखता और विकार से विमुखता का एक ही काल है।

५५—जिसप्रकार सती के हृदय में दूसरा पति नहीं होता, उसीप्रकार साधक संत के हृदय में विकार की प्रीति स्वप्न में भी नहीं होती।

५६—भाई, संत तुझे तेरे स्वभाव की अपूर्व बात समझाकर मोक्ष का तिलक लगाते हैं। सिद्धपद को साधने का यह अवसर आया है।

५७—प्रभो! विकार की रुचि छोड़कर स्वभाव को साधने का यह काल है। 'अभी नहीं, फिर करेंगे'—ऐसी अवधि मत बढ़ाना।

५८—अरे, ऐसा अवसर मिलने पर भी जिसने आत्म-प्रतीति नहीं की और दूसरे शुभ कार्य चाहे जितने किये, तो भी उसने कुछ नहीं किया, उसके हाथ कुछ नहीं आयेगा। और जिसने भेदज्ञान किया, उसने सबकुछ किया है, उसे अवश्य सिद्धपद की प्राप्ति होगी।

५९—कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रवचनसार के प्रारम्भ में कहते हैं कि चारित्रदशा अंगीकार करके मैं अपनी मोक्षलक्ष्मी का वरण करने चला हूँ; मैंने अनंत सिद्ध भगवंतों को अपने साथ रखा है। अब मुझे मोक्षदशा प्राप्त करने में बीच में कोई बाधक नहीं हो सकता। अप्रतिहतभाव से मोक्षदशा लेकर ही रहूँगा।

६०—अंतर्वृत्ति में आनंद है, बहिर्वृत्ति में दु:ख है—ऐसा भेद जाना, वहाँ अंतर्वृत्ति हुई और राग की प्रीतिरूप बहिर्वृत्ति छूट गई।

६१—जिसकी अंतर्वृत्ति न हो और बहिर्वृत्ति न छूटे, उसने सचमुच आत्मा के आनंदस्वभाव को तथा रागादि के दु:खपने को जाना ही नहीं।

६२—जहाँ चिदानंद का प्रेम जागृत हुआ और राग का प्रेम छूटा, वहाँ निर्विकार सम्यग्ज्ञान प्रकाश से आत्मा जगमगा उठा; इसी को भेदज्ञान कहते हैं और यही अपूर्व धर्म है।

६३—भगवान महावीर परमात्मा को आज (पंचकल्याणक में) केवलज्ञान हुआ। आज वैशाख शुक्ला १२ में वैशाख शुक्ला १० का आरोप करके आज ही केवलज्ञान हुआ—ऐसी स्थापना की जाती है।

६४—केवलज्ञान के पश्चात् ६६ दिन बाद भगवान की वाणी अखंड सर्व प्रदेशों से खिरी; वह अखंड रहस्य प्रगट करती है।

६५—उस वाणी को झेलकर गणधर भगवान ने उसे बारह अंग सूत्ररूप में गूँथा। उसमें छह द्रव्य, नव तत्त्व आदि का स्वरूप समझाया है और उस सबका सार शुद्ध आत्मा है—ऐसा बतलाया है।

६६—भगवान की वाणी में प्रत्येक पदार्थ की स्वतंत्रता की घोषणा है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र, उनके अपने-अपने अनंत गुण स्वतंत्र और उनकी समय-समय की पर्यायें स्वत:सिद्ध स्वतंत्र हैं। ऐसी स्वतंत्रता में स्वद्रव्य का आश्रय है; वह भगवान की वाणी का सार है।

६७—जो शांतिपूर्वक आत्मार्थी बनकर निजहित करना चाहता हो, उसके लिये भगवान का उपदेश है। भगवान का उपदेश चतुर्गति को हरनेवाला तथा सिद्धपद देनेवाला है।

६८—जगत के समस्त तत्त्व स्वकार्य सहित हैं, इसलिये दूसरा कोई उनका कार्य करे, ऐसा नहीं होता। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ करे, ऐसी वस्तु की मर्यादा नहीं है।

६९—अब, अंतर में जो शुभाशुभभाव होते हैं, उनकी मर्यादा भी विकार जितनी है; धर्म में उनका किंचित् प्रवेश नहीं है; इसलिये उन शुभाशुभभावों द्वारा धर्म हो, ऐसा नहीं होता।

७०—अज्ञानी राग को निजकार्य मानकर उसका आदर और चिदानंदस्वभाव का अनादर करता है—इसी का नाम अधर्म है।

७१—भाई, सुन! विकार के स्वाद में तेरे चैतन्य की मिठास नहीं है, शांति नहीं है, उसमें तो आकुलता है। तेरा चैतन्य स्वाद उससे भिन्न है, उसमें निराकुल शांति है।

७२—जिसे चैतन्य का स्वाद लगा, उसकी रुचि अन्य स्वाद के वेदन से हट जाती है और उसे चैतन्यस्वाद का ही आदर-सत्कार-प्रीति-रुचि होती है।—इसका नाम भेदज्ञान है।

७३—ऐसा भेदज्ञान होने पर अनादिकालीन अज्ञान छूट जाता है। जिसने ऐसा भेदज्ञान किया, वह मोक्ष के मार्ग में आया, वह भगवान के पंथ में आ गया।

७४—भगवान आत्मा आनंद तत्त्व है, रागादि विकार वह दु:ख है—इन दोनों के लक्षण अत्यंत भिन्न हैं।

७५—प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से आत्मा स्वयं अपने को अनुभव में आये, ऐसी प्रकाशशक्ति आत्मा में है। उसे स्वसंवेदन के लिये राग का अवलंबन नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानी अपने आत्मा का राग के अवलंबन बिना स्वयं प्रत्यक्ष स्पष्ट अनुभव करता है; वह अनुभव नि:शंक है, अतीन्द्रिय है। ऐसा अनुभव होने पर संसार की जड़ उखड़ जाती है और मोक्ष के रत्नस्तम्भ गड़ जाते हैं।

७६—जहाँ ज्ञान की रुचि करके ज्ञानस्वभाव की ओर ही ज्ञान उन्मुख हुआ, वहाँ कर्म बंधन अटक गया। ज्ञान की रुचि हुई, वहाँ कर्मबंधन रुक गया।

७७—यदि ज्ञान में राग का आदर हो तो वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान ही नहीं है किंतु अज्ञान ही है। ज्ञान जब पुण्य-पाप से पृथक् होकर स्वभाव में एकतारूप वर्तन करे, तभी वह सच्चा ज्ञान है, उस ज्ञान में आस्रवों का अभाव ही है। उस ज्ञान को बंधन नहीं है।

७८—भाई, भगवान चैतन्यराजा अनादि से रूठा हुआ है, उसे रिझाने की यह बात है। विकार परिणतिरूप कुलटा की प्रीति करने से सम्यक् परिणति रूठ गई है; चिदानंदस्वभाव का आदर करना और राग का आदर छोड़ना, वह सम्यक् परिणति को रिझाने की रीति है।

७९—अहा! देखो तो सही, यह वीतराग की वाणी! चैतन्य का अभ्यास न होने से कठिनाई मालूम होती है, किंतु यह तो अपने निजगृह की बात है, यह सत्समागम द्वारा चैतन्य के परिचय से सुगम होती है।

८०—भगवान कहते हैं कि सुन! मोक्षपुरी के पंथ में तुझे हमारे साथ आना हो तो चिदानंदस्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ करना। हमारे सार्थवाह में पुरुषार्थहीन जीवों का काम नहीं है। हमारा पंथ स्वोन्मुख पुरुषार्थ का है।

८१—जो जीव राग का आदर करके अटक गया और चैतन्यस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ नहीं किया, वह जीव कायर है; ऐसे कायर जीवों का हमारे मार्ग में काम नहीं है।

८२—राग को मोक्ष का साधन मानकर जो उसमें एकत्वबुद्धि से अटक जाते हैं और राग से भिन्न ज्ञान को नहीं पहिचानते, ऐसे जीव क्रियाकाण्ड में या शुष्कज्ञान में ही लीन हैं।

८३—आत्मा ज्ञाता है, उसमें अंतर्मुख होने पर राग से भिन्न परिणमन होता है। ऐसे ज्ञानपरिणमन को ही यहाँ भेदज्ञान कहा है।

८४—जो ज्ञान दु:खरूप आस्रवों से छूटकर आत्मा के आनंद में न आया हो, उसे ज्ञान नहीं कहते, वह अज्ञान ही है।

८५—जो भेदज्ञान है, वह चैतन्यस्वभावोन्मुख है और आस्रवों से विमुख है—ऐसा ज्ञान, वह मोक्ष का कारण है।

८६—ज्ञान की बातें करे, किंतु ज्ञानरूप परिणमन न करे तो वह जीव शुष्कज्ञानी है। एक क्षण का भेदज्ञान जीव को अपूर्व आनंद का अनुभव कराता है और अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त कराता है।

८७—चैतन्य की गति अगाध है; उस अगाधगति का पार राग से नहीं पाया जाता। शरीराश्रित व्रत-तपादि राग का फल तो संसार में ही है, वह कहीं मोक्ष का साधन नहीं होता। आत्मा का ज्ञान, सो निश्चय और शरीर की क्रिया, उसका व्यवहारधर्म - ऐसा नहीं है।

८८—अंतरस्वभावोन्मुख ज्ञान ही मोक्ष का कारण होता है। वह ज्ञान, बंध भावों से पृथक् हो गया है और आनंद में एकाकार हुआ है। ज्ञान उसे कहा जाता है, जो आस्रवों से निवर्तन और स्वभाव में प्रवर्तन करे।

८९—परपरिणति को छोड़ता हुआ तथा चिदानंदतत्त्व का वेदन करता हुआ जो ज्ञान प्रगट हुआ, अहा! उस ज्ञान में विकार के साथ कर्ताकर्मपने का अवकाश कहाँ है? और उसे बंधन भी कैसे होगा? वह ज्ञान, विकार का अकर्ता होकर अबंधरूप से मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करता है; वह कल्याणरूप है और वह मोक्ष का साधन है।

९०—देखो, इस पंचकल्याणक में आत्मा के कल्याण की अपूर्व बात है। जिसने यह बात समझकर अपने में ऐसा भेदज्ञान प्रगट किया, उसने अपने में अपूर्व मंगल कल्याण किया है।

९१—अरे, यह चार गति के दु:ख कैसे दूर हों और चैतन्य की शीतल शांति का स्वाद कैसे आये—उसकी बात जीव ने कभी प्रीतिपूर्वक सुनी नहीं है। एकबार यह बात सुनकर लक्षगत करे तो अल्प काल में भव का अंत आ जाये और परमानंद दशा प्राप्त हो।

९२— भेदज्ञान साबुन भयो, समरस निर्मल नीर,
धोबी अंतर आतमा, धोवे निजगुण चीर।

देखो, यह धर्मात्मा धोबी भेदज्ञानरूपी साबुन द्वारा चैतन्य के परम शांतरसरूप जल से निजगुण रूपी वस्त्र धोकर उज्ज्वल दशा प्रगट करता है।

९३—भेदज्ञान की भावना द्वारा मोह के मैल को धर्मात्मा ने धो डाला है, अंतर में अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यरस से भरपूर अनुभव करता है, वह सम्यक्विद्या है।

९४—भेदज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। राग और चैतन्य की भिन्नता के वेदनरूप भेदज्ञान ही मोक्ष के साधनरूप सच्चा ज्ञान है; उसके बिना वकील, डॉक्टर आदि सबकी पढ़ाई, वह कुज्ञान है। अरे, शास्त्रों की पढ़ाई को भी भेदज्ञान के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं कहते।

९५—भाई, भेदज्ञान के अतिरिक्त अन्य सब (शुभराग के) साधन तूने अनंत बार किये, परंतु उनसे तेरा किंचित् कल्याण नहीं हुआ। तो अब संतों के निकट जाकर अंतर में कल्याण का सच्चा मार्ग ढूँढ़।

९६—निजस्वरूप को भूलकर अज्ञानी अनंत काल से चार गति में हैरान हो रहा है; उसे संत-महात्मा समझाते हैं कि—हे जीव! तेरे निजगृह में तो आनंद भरा है, विकार तेरे निजगृह में नहीं है; इसलिए अंतर में उपयोग लगा तो तुझे अपने आनंद का संवेदन हो।

९७—यह चैतन्य भगवान आत्मा विकार से अपनी भिन्नता की प्रतीति करके जागृत हुआ, वहाँ वह ज्ञाता ही रहता है; ज्ञानभाव में ही तन्मयरूप से परिणमित होता है, विकार में वह किंचित् तन्मय नहीं होता।

९८—सम्यग्दृष्टि के अंतर में ज्ञान-सूर्य उदित हुआ है, उसके चैतन्य-प्रकाश में विकाररूपी अंधकार नहीं होता। जिसप्रकार सूर्य में अंधकार का कर्तृत्व नहीं है, उसीप्रकार ज्ञानप्रकाशी चैतन्यसूर्य में विकार का कर्तृत्व नहीं है।

९९—जहाँ ऐसा भेदज्ञान करता हुआ भगवान आत्मा जागृत हुआ, वहाँ अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आया और कर्मों के साथ का संबंध टूट गया। आत्मा निजपरिणति में रमण करने लगा।

१००—अहा, भेदज्ञान हुआ... और आत्मा में शांति का सागर उमड़ पड़ा... समरस का स्वाद अनुभव में आया... आत्मा मानों सिद्ध भगवान की पंक्ति में जा बैठा। अहा, ऐसी ज्ञानकला जिसके अंतर में जागृत हुई है, वे धर्मातमा जगत में सहज वैरागी हैं, उनका आत्मा वैराग्यरस में

परिणमित हो गया है, अब जगत के विषयों में उसकी रुचि नहीं रहेगी।—ऐसे साक्षात् धर्मात्मा की पहिचान भी बड़ी पात्रता से किन्हीं भाग्यवान जीवों को होती है।

१०१—धर्मात्मा को निजगुण का रंग लगा है, उसमें अब कभी भंग नहीं पड़ सकता। राग के साथ की एकता को तोड़ता हुआ चैतन्य भगवान जागृत हुआ वह निजगुणरूपी रत्नों की प्राप्ति करता हुआ पूर्ण अतीनिद्रय आनंद प्रगट करके परमात्मा होता है।

सूक्ष्म बुद्धि

सूक्ष्म बुद्धि उसे कहते हैं जो बुद्धि अंतरोन्मुख होकर अतीन्द्रिय स्वभाव की ओर ढले। शुभाशुभभाव स्थूल है, उन परभावों में वर्तती हो वह बुद्धि सूक्ष्म नहीं है। अत्यंत धैर्यपूर्वक अति निराकुलता से ज्ञान को अंतरोन्मुख करके चैतन्य का बोध करे वही बुद्धि सूक्ष्म है। सूक्ष्मबुद्धि कहो या सम्यक् बुद्धि कहो, दोनों एक हैं। अमाप ज्ञान का माप ऐसी सूक्ष्मबुद्धि से ही हो सकता है।

सम्यक्त्वी महापुरुष

❀ महापुरुष कौन है ?

भेदज्ञान द्वारा पर से भिन्न ऐसा महान चैतन्यतत्त्व जिसने प्रतीति में लिया है, वही महापुरुष है।

❀ वह महापुरुष क्या करता है ?

चैतन्य महा प्रभु को परभावों से भिन्न करके भेदज्ञानी धर्मात्मा उज्ज्वल दृष्टि द्वारा अपने अंतर में देखता है और अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि ही वास्तव में महापुरुष और महात्मा हैं; अन्य जो जगत में महान कहे जाते हों, वे वास्तव में महान नहीं हैं।

❀ सम्यक्त्वी की प्रतीति किस जैसी है ?

सम्यग्दृष्टि की प्रतीति गणधर भगवान जैसी है। जैसा शुद्ध आत्मा तीन काल के गणधरदेवों ने प्रतीति में लिया है, वैसा ही शुद्ध आत्मा चतुर्थ गुणस्थान में स्थित सम्यग्दृष्टि बालिका ने भी प्रतीति में लिया है, उसमें किंचित् अंतर नहीं है।

❀ सम्यग्दृष्टि कैसे हैं ?

सम्यग्दृष्टि जिनेश्वर भगवान के पुत्र हैं; जिसप्रकार गणधरों को 'तीर्थंकर का पुत्र' कहा गया है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि भी 'जिनेश्वर के नंदन' हैं।

❀ सम्यग्दृष्टि को काहे का रंग लगा है ?

सम्यग्दृष्टि को धर्म का अर्थात् अपने चैतन्यस्वभाव का ही रंग लगा है।

❀ सम्यक्त्वी का वह रंग कैसा है ?

सम्यक्त्वी को जो रंग लगा है, उसमें कभी भंग पड़नेवाला नहीं है। चैतन्य के रंग में भंग पड़े बिना अप्रतिहत भाव से वह केवलज्ञान प्रगट करेगा। (प्रवचन से)

सैद्धांतिक चर्चा

लेख नंबर—१

इन्द्रभूति गणधरदेव और काललब्धि आदि कारण सामग्री

[श्री जय धवल आदि के आधार से]

(श्री रामजीभाई माणिकचंद दोशी एडवोकेट)

[१]

श्री जयधवल, भाग १, पृष्ठ ४९-५० और ७६ में जो शंका-समाधान दिये गये हैं, उनसे अग्रलिखित नियम सिद्ध होते हैं:—

[१] पर्यायें, चाहे वह विकारी हों या अविकारी, अपने-अपने स्वकाल में ही होती हैं। कभी भी अन्य काल में नहीं होतीं। यह जैनधर्म और काललब्धि का सिद्धांत है।

[२] विकारी पर्यायवाले उपादान में कार्य के समय जो काललब्धि होती है, वही काललब्धि निमित्त कारण के सामर्थ्य की भी होती है। यह मान्यता नितांत भ्रम पूर्ण होगी कि वह आगे-पीछे और अनिश्चित होती है। श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा २१९) में भी कहा है कि 'सभी पदार्थ, क्योंकि कालादिलब्धियों से सहित होते हैं, अत: वे नाना शक्तियों से युक्त और स्वयं परिणममान हैं, उनमें से किसी के परिणमन में रोक लगाने की सामर्थ्य किसी में नहीं।' अत: सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामरूप द्रव्य, क्षेत्र और काल की सामग्री पाकर स्वयमेव स्व-काल और स्व-अवसर में भावरूप परिणमन करते हैं।

इन दोनों नियमों या सिद्धान्तों को सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित शंका-समाधान द्रष्टव्य है (जयधवल, भाग १, पृष्ठ ७६):—

शंका-भगवान महावीर की केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर छ्यासठ दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई ?

समाधान-गणधर के उपस्थित न होने से उतने दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति नहीं हुई।

शंका-सौधर्म इन्द्र ने केवलज्ञान के प्राप्त होने के समय ही गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया ?

समाधान–नहीं किया, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था, उसमें उस समय गणधर को उपस्थित करने की शक्ति नहीं थी।

[२]

जिस समय जो निमित्त होने योग्य हो, वही होता है; अन्य नहीं—ऐसा स्वभाव है। इस विषय में शंका-समाधान देखिये (पृष्ठ ७६ से):—

शंका–जिसने अपने पादमूल में महाव्रत स्वीकार किये हैं, ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती है ?

समाधान–ऐसा ही स्वभाव है। और स्वभाव के विषय में दूसरों के द्वारा प्रश्न नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि स्वभाव में ही प्रश्न होने लगे तो फिर किसी प्रकार की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी।

[३]

इस सिद्धान्त का यथार्थ फल देखिये:—

भगवान श्री वीरसेनाचार्य ने ऊपर जो उपादान के कार्य की तथा निमित्त के कार्य की काललब्धि का स्वरूप कहा है और उनका जो स्वभाव बताया है, वह संपूर्णतया स्पष्ट है। इसको पढ़कर कोई यह मानने लगे कि इससे धर्म में जीवों का पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है और श्री गोम्मटसार तथा श्री पंच संग्रह में जो एकांत नियतिवाद कहा है, वह आ जावेगा, तो यह मान्यता असत्य है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि ऐसी मान्यता से, परद्रव्यादि से और शुभराग से लाभ मानने की बुद्धि छूटकर आत्म-सन्मुख बुद्धि हो जावेगी।

जिसे आत्म-सन्मुख बुद्धि प्रगट न हो, वह भगवान श्री वीरसेन स्वामी के द्वारा प्ररूपित 'वह काललब्धि के सिद्धांत' को गलत समझते हैं।

[४]

उपरोक्त सिद्धांत के अनुसार, उचित निमित्त प्रत्येक समय में होता है, फिर भी वास्तव में निमित्त से कोई कार्य हो सकता है, ऐसी मान्यता जैन सिद्धांत का अपलाप और उपादान का नाश करनेवाली है। इस विषय में श्री जयधवल (भाग १, पृष्ठ ४९-५०) में जो शंका-समाधान है, वह अत्यंत मार्मिक बन पड़ा है, लीजिये उसे ही प्रस्तुत करता हूँ:—

''इसप्रकार यह सिद्ध किया जा चुका है कि केवलज्ञान के अवयवभूत मतिज्ञानादि का

चूँकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है, अत: अवयवीरूप केवलज्ञान के अस्तित्व का भी ज्ञान हो जाता है। अब आगे प्रकारान्तर से केवलज्ञान के अस्तित्व की सिद्धि करते हैं।

शंका-मतिज्ञानादि को केवलज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं।

समाधान-'ण करण वाद गदो पुव्वं णाणाभावेण जीवा भावप्पसंगादो' अर्थात् नहीं, यदि ऐसा माना जाए कि ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है तो इन्द्रिय व्यापार के पहले **जीव के गुण स्वरूप ज्ञान का अभाव हो जाने से गुणीरूप जीव के भी अभाव का प्रसंग आता है।**

शंका-इन्द्रिय व्यापार के पहिले, जीव में ज्ञान सामान्य रहता है, ज्ञान विशेष नहीं। अत: जीव के भी अभाव का प्रसंग नहीं आता।

समाधान-नहीं, क्योंकि तद्भाव है लक्षण जिसका, ऐसे सामान्य से अर्थात् ज्ञान सामान्य से ज्ञान विशेष पृथग्भूत नहीं पाया जाता है। अत: समूचे द्रव्य में रहना ज्ञान और दर्शन है लक्षण जिसका, ऐसा जीव न तो उत्पन्न होता है और न मरता है क्योंकि जीव तत्त्व के कारणभूत ज्ञान और दर्शन को छोड़े बिना ही वह (जीव तत्त्व) एक पर्याय से दूसरी पर्याय में संक्रमण करता है।''

जयधवल (भाग १, पृष्ठ १०३) में इस विषय में कहा है कि—

अत्ता चेयं अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छयो समये।
जो होई अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो॥४३॥

अर्थ-समय अर्थात् जिनागम में ऐसा निश्चय किया गया है कि आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है। उनमें जो प्रमादरहित आत्मा है, वह अहिंसक है तथा जो इतर अर्थात् प्रमाद सहित है, वह हिंसक है। श्री धवल ग्रंथ (भाग १४,पृष्ठ ९०) में लिखा है कि:—

स्वयं स्वहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत् पराधीनमिह द्वयं भवेत्।
प्रमाद हीनोऽत्र भवत्य हिंसका प्रमाद युक्तस्तु सदैव हिंसका:॥५॥

अर्थ-अहिंसा भी स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं। यहाँ ये दोनों पराधीन नहीं हैं। जो प्रमादहीन है, वह अहिंसक है किन्तु जो प्रमादयुक्त है, वह सदैव हिंसक है॥५॥

यहाँ तीन आधार से सिद्ध हुआ कि निमित्त होने पर भी वे उपादान में कुछ भी कार्य, प्रभाव, अतिशय पैदा नहीं कर सकते।

अब विचार कीजिये। जब जीव हिंसक होता है, तब मोहनीयादि कर्म का उदय निमित्त

कारण है ही और जब जीव अहिंसक होता है, तब मोहनीयादि कर्म की निर्जरा और क्षय निमित्त कारण है ही, तब भी उपर्युक्त दोनों गाथाओं में आत्मा स्वतन्त्रता से ही हिंसक और अहिंसक होता है, न कि परतंत्रता से। ऐसा अस्तिनास्तिरूप (विधि-निषेधरूप) अनेकांत सिद्धांत प्रतिपादन किया और समझाया कि उन निमित्त कारणों से कुछ भी कार्य उपादानकारणरूप आत्मा में हुआ है, ऐसी श्रद्धा भी मिथ्या है, और ज्ञान भी मिथ्या।

इससे सिद्ध हुआ कि निमित्तकारण होने पर निमित्त से कुछ अंश भी उपादान में कार्य होता है, ऐसी श्रद्धा और ज्ञान करने से उपादान का नाश हो जाता है।

[५]

कालादिलब्धि और सम्यक् अनेकांत की चर्चा देखिए:—

(१) द्रव्यार्थिकनय से प्रत्येक द्रव्य और गुण त्रैकालिक होता है। अत: उसकी अकाललब्धि होती है और पर्यायार्थिकनय से प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें, चाहे वे विकारी हों या अविकारी, क्रमवर्ती हुआ करती हैं, अत: अपने स्व समय के उपस्थित होने पर ही होती हैं, आगे-पीछे कभी नहीं होतीं क्योंकि उनकी काललब्धि ही ऐसी है। (२) अनेकांत का सिद्धांत यह है कि प्रत्येक पर्याय की, काललब्धि के साथ अन्य सभी लब्धियाँ और सामग्री भी अवश्य हुआ करती हैं; न हुआ करें, ऐसा कभी संभव नहीं। इसलिये (१) मोक्षपाहुड में श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मोक्ष पर्याय अपनी कालादि लब्धियों से होती हैं। (२) श्री पंचास्तिकाय (गाथा २१) में कहा कि **'निश्चयनयेन स्वयमेव कालादिलब्धिवशात् सर्वज्ञो जात: सर्वदर्शी च जात:'** अर्थात् निश्चयनय से अपने आप कालादि लब्धि प्राप्त करके सर्वज्ञ होता है, सर्वदर्शी भी होता है। (३) इसी ग्रंथ की (गाथा १५०-१५१ की, पृष्ठ ६५) टीका में कहा है कि आगमभाषा में **कालादिलब्धिरूप** और अध्यात्मभाषा में **शुद्धात्माभिमुख-परिणामरूप** स्वसंवेदन ज्ञान प्राप्त करती हैं।

जिसप्रकार ऊपर 'कालादि लब्धि' में आदि शब्द दिया गया है। उसीप्रकार पंचास्तिकाय में 'काललब्धि' में आदि शब्द न देकर उसे अकेला 'काललब्धि' भी लिखा गया है। जैसे उसके (पृष्ठ १२३, गाथा ७० के) भावार्थ में पंडित श्री हेमराजजी लिखते हैं कि 'जो जीव काललब्धि पाकर अनादि अविद्या को नाश करके...'। और (गाथा २०, पृष्ठ ४३) की टीका में लिखते हैं कि—'तथा भव्य जीव को काललब्धि से सम्यग्दर्शनादि मोक्ष की सामग्री पाने से सिद्धपर्याय होती है....'। तथा (गाथा २९, पृष्ठ ६४ की) भूमिका में वे कहते हैं कि '.....और जब काललब्धि होती है, तब

सम्यग्दर्शनादि सामग्री आकर मिल जाती है।' श्री जयसेनाचार्यजी (पृष्ठ १६० में) लिखते हैं कि 'यहाँ काललब्धिवश भेदाभेदरूप रत्नत्रय प्राप्त कर जीव ऐसा सुख साधते हैं जो रागादि रहित, नित्यानंद, एक स्वभाव, उपादेयभूत, एवं पारमार्थिक होता है। और अभिप्राय यह है कि यह सुख भी जीव अपने उपादान कारण से साधते हैं, काल से नहीं। कहा भी है कि 'आत्मा के उपादान उपादान से सिद्धं....' इत्यादि। अन्यत्र (गाथा १६१, पृष्ठ २३३ में) भावार्थ में कहते हैं कि—'आत्मा असद्भूत व्यवहार की विवक्षा से अनादि अविद्या से युक्त है, जब काललब्धि पाने से उसका (अनादि अविद्या का) नाश होवे...'।

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि (उन उन सभी स्थानों पर) 'काललब्धि' शब्द चाहे अकेला अर्थात् आदि शब्द के बिना आया हो या आदि शब्द के साथ 'कालादि लब्धि' के रूप में आया हो परंतु यह नियम है कि काललब्धि के साथ अन्य सभी लब्धियाँ और सामग्री भी अवश्य होती है क्योंकि उन सभी का काललब्धि के साथ अविनाभावी संबंध है, और उसी (काललब्धि के साथ अन्य सभी लब्धियों और सामग्री के रहते) समय ज्ञानी जीव अपने सन्मुख होकर अपने त्रैकालिक आत्मरूप उपादानकारण का आश्रय करता ही है। परंतु अज्ञानीजन शास्त्र के प्रत्येक स्थान में विपरीत अर्थ को ग्रहण करते हैं।

देखिए, इन्हीं लब्धियों के विषय में पंडित श्री बनारसीदासजी ने समयसार नाटक (पृष्ठ ३३५) में गिनाया है, (१) स्वभाव, (२) पुरुषार्थ, (३) काललब्धि, (४) निश्चय (नियति) और (५) कर्म का उदयादि अर्थात् निमित्त। पंडित श्री टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक (अध्याय ९) में भी यहाँ पाँच गिनाई हैं। इन्हीं पाँचों में संपूर्ण कारण सामग्रियाँ भी समाविष्ट हो जाती हैं, ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति स्वयं समझ लेते हैं।

इसप्रकार, 'कालादि लब्धि में जुड़े हुए 'आदि' शब्द से अनेकांत सिद्ध होता है। धवला (भाग ६, पृष्ठ २०४-५) में कहा है कि:—

शंका-सूत्र में केवल एक काललब्धि का ही प्ररूपण किया गया है, उसमें इन शेष लब्धियों का होना कैसे संभव है ?

समाधान-संभव है, क्योंकि प्रति समय अनंत गुणहीन अनुभाग की उदीरणा, अनंत गुणित क्रम द्वारा वर्धमान विशुद्धि का और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का होना उसी एक काललब्धि में होना संभव है। अर्थात् उक्त **चारों लब्धियों की प्राप्ति काललब्धि के ही आधीन हैं, अतः वे चारों**

लब्धियाँ काललब्धि में ही अन्तर्निहित हो जाती है। श्री प्रवचनसार (गाथा १४४) की टीका में कहा है कि 'काललब्धि से पर्याय होती है, ऐसी मान्यतावाले जीव को अपने निज परमात्मा के उपादेयत्व की ही रुचि है। और वह जीव काल को उपादेय नहीं किंतु हेय जानता है।' श्री जयसेनाचार्यजी भी श्री पंचास्तिकाय (गाथा २०, पृष्ठ ४२) में कहते हैं 'यदा कालादि लब्धि वशात्।'

[६]

काल आदि लब्धि वस्तुस्वरूप है और वह ज्ञेयतत्त्व का सारभूत है।

प्रत्येक विकारी और अविकारी पर्यायों की काललब्धि होती ही है अर्थात् ऐसी श्रद्धा करना योग्य नहीं कि अशुद्ध उपादान की प्रत्येक पर्याय और उसका निमित्त काललब्धि के सिद्धांत के बाहर है। जो यह नहीं मानता कि पुद्गल कर्म का उदय, उदीरणा, निर्जरा और संक्रमण आदि सभी पर्यायें अपने निज काल में लब्धि के अनुसार होती है, वह जीव, अजीवतत्त्व की भूल तो करता ही है, साथ-ही-साथ आस्रव, बंध, पुण्य और पाप आदि सब तत्त्वों की श्रद्धा भी विपरीत करता है।

कदलीघात मरण अपने स्वकाल में ही होता है। कारण यह है कि ऐसे मरणवाले जीव ने पूर्व भव में ऐसी ही सोपक्रम आयु का बंध किया था। **सोपक्रम आयु के रजकणों को कोई भी निरुपक्रम आयु के रजःकण कर सकता हो, ऐसा कदापि नहीं।**

सब काललब्धि के अनुसार होता है, ऐसी श्रद्धा करके जीव को स्व-सन्मुख होना चाहिये।

[७]

गणधरदेव के अवधिज्ञान से कारण-कार्य सहित काललब्धि की सिद्धि की जा रही है।

श्री जयधवल (भाग १, पृष्ठ ८३) में गणधरदेव का वर्णन करते समय कहा गया है कि 'सवो हि णाणेण दिट्ठा सेस पोग्गल-दव्वस्स' अर्थात् जिन्होंने सर्वावधिज्ञान से **अशेष पुद्गलद्रव्य का साक्षात्कार कर लिया है।** आयु तथा अन्य सभी कर्मों की उदीरणा, निर्जरा आदि पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं और इन पर्यायों में से एक भी ऐसी नहीं जो गणधरदेव के ज्ञान से बाहर हो, यही बतलाने के लिये उपर्युक्त कथन में 'अशेष' शब्द लाया गया है। गणधरदेव के ज्ञान का 'अशेष पुद्गलद्रव्य का साक्षात्कार करनेवाला' विशेषण न बनेगा यदि वह (ज्ञान) पुद्गल की भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों कालों की पर्यायों को संपूर्णरूप से न जाने और एक भी पर्याय उसके जानने से बच रहे। इसप्रकार इस (गणधरदेव के सर्वावधि) ज्ञान से भी सिद्ध होता है कि सब

(अशेष) पुद्गलद्रव्यों की विकारी और अविकारी पर्यायें काललब्धि के अनुसार ही होती है।

[८]

गणधरदेव के मनःपर्ययज्ञान से भी कारण-कार्य सहित काललब्धि की सिद्धि देखिये:—

यह विषय श्री धवल (भाग १३, पृष्ठ ३३२ और ३४१, गाथा ६३ और ७२) में आया है (देखिये, उसी की टीका पृष्ठ ३३४)। जीवित-मरण के लिये है, उसके अनुसार कदलीघात मरण का निश्चित काल गणधरदेव के इस ज्ञान में आ जाता है। जिससे प्रत्येक जीव की विकारी पर्याय की काललब्धि की अनिवार्यता सिद्ध होती है।

[९]

पंचास्तिकाय (गाथा १५५) में परसमयी जीव की 'अनियत गुण-पर्यायों का कथन है। उनसे भी काललब्धि की सिद्धि होती है। श्री समयसार (गाथा १४) में जीव को शुद्धनय से (१)अबद्धस्पृष्ट, (२) अनन्य, (३) नियत, (४) अविशेष और (५) असंयुक्त कहा है। जीव की पर्याय अनादि से (१) बद्धस्पृष्ट, (२) अन्य, (३) अनियत, (४) विशेष और (५) संयुक्त है, ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने (उपर्युक्त गाथा की) टीका और कलश (नंबर १७) में कहा है। वहाँ 'अनियत' शब्द का अर्थ किया है कि 'जैसे समुद्र का वृद्धि-हानिरूप अनुभव करने पर अनियतपना भूतार्थ या सत्यार्थ है... इसप्रकार आत्मा की वृद्धि-हानिरूप भेद पर्यायों का अनुभव करने पर अनियतपना भूतार्थ या सत्य है तो भी....।' यहाँ 'अनियत' शब्द का अर्थ है पर्याय में हानि-वृद्धिरूप क्रिया, जैसा कि श्री जयसेनाचार्य ने भी ऐसा अर्थ किया है। उन्होंने (गाथा १४) में जो पाँच प्रकार के विकारी भाव कहे हैं, उन सबको (गाथा २०३ में) 'अपद्भूत' कहा है और यह भी कहा है कि वे सब विकारी भाव अतत् स्वभाव से अनुभव में आते हैं तथा सभी विभाव भाव 'अनियत अवस्थावाले हैं।'

समयसार (गाथा १४) की टीका में, उन अपद्भूत भावों को बद्धस्पष्ट आदि पाँच भावों के रूप में वर्णित किया है और उन्हीं को रायचंद जैन शास्त्रमाला पंचास्तिकाय (गाथा १५५) में संक्षेप से 'अनियतगुणपर्यायोऽयपरसमय' कहा है। पर समय का अर्थ किया गया है—एक काल में जानना और रागरूप से परिणमना [देखिये, श्री समयसार गाथा २ की टीका]। 'अणियतगुणपज्जओयपरसमआ', में अनियतपर्याय का अर्थ नर-नारकी आदि विभाव पर्याय है

और उसके रूप में परिणत जीव परसमयरत कहलाता है। [देखिये, जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका, पृष्ठ २५५]।

श्री अमृतचंद्राचार्य की पंचास्तिकाय गाथा १५५ की टीका में कहा है कि '....उपर्युक्त उपयोगवाला (अशुद्ध उपयोगवाला) होता है, तब (स्वयं) **भावों का विश्वरूपपना (अनेकरूपपना) ग्रहण किया होने के कारण उसमें अनियतगुणपर्यायपना है,** वही परसमय अर्थात् परचारित्र है।' वहाँ अनियतगुणपर्यायपना का अर्थ किया है भावों का विश्वरूपपना और परचारित्र। श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की एक गाथा में स्पष्ट कहा है कि छहों द्रव्यों की अनादि-अनंत, सभी पर्यायें काललब्धि के अनुसार ही परिणमित होती है। श्री पंचास्तिकाय (गाथा १८-१९) में नर-नारकी आदि अनियत विभाव पर्याय का स्वरूप आया है। वही अनियत विभाव पर्यायें काललब्धि के नियम को सिद्ध करती हैं। एक गाथा (नंबर १८) की टीका में दर्शाया गया है कि 'देव-नारक आदि पर्यायें उपजती हैं और विनशती क्योंकि वे क्रमवर्ती हैं। इसलिये उसके स्वसमय उपस्थित होते हैं और बीत जाते हैं।' एक और गाथा (१९वीं) में यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'देव जन्मते हैं और मनुष्य मरते हैं, ऐसे कथन किये जाने का **कारण यह है कि देव-मनुष्य नामक जो गति नामकर्म की प्रकृति है, वह उतने ही समय की है।**' इसप्रकार यह श्रद्धा करना चाहिये कि अनियत पर्याय काललब्धि को स्पष्टता से सिद्ध करती है।

'अनियत गुण' का अर्थ मतिज्ञान आदि विभावगुण है। वह भी ज्ञान-गुण की विभाव पर्याय है। पर्याय, **चूँकि स्वयं क्रमवर्ती है, अतः वह अपने स्व-समय में उपस्थित होती है** और बीत जाती है, इसलिये वह भी काललब्धि को सिद्ध करती है। इस बात को श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी स्वयं चेतनागुण के आधार से निःशंकपने से जानते हैं।

[१०]

अब चेतना गुण से काललब्धि की सिद्धि की जा रही है:—

श्री पंचास्तिकाय (गाथा १२७) में एक पद आया है 'चेदणागुण' जिसकी व्याख्या निम्न प्रकार है (देखिए, पृष्ठ १९०-९१)—

यत सर्वाणि चराचराणि विविध द्रव्याणि तेषां गुणान्;
पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वदा।

जानीते युगपत् प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते;
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः॥

इति वृत कथित लक्षणेन केवलज्ञान संज्ञेन शुद्ध ज्ञान चेतना गुणेन युक्तत्वात् चेतना गुणश्च। इसकी व्याख्या स्पष्ट है संपूर्ण विकारी और अविकारी पर्यायों को **सर्वज्ञ सदाकाल और सभी प्रकार से जानता है, इससे सब पर्यायों की काललब्धि सिद्ध हुई।** 'भगवान किसप्रकार से जानते हैं, कुछ समझ में नहीं आता' ऐसा संशय 'सर्वदा' शब्द से दूर हो जाता है।

श्री समयसार (गाथा ४९, पृष्ठ ९९) की टीका में चेतनागुण की व्याख्या निम्नलिखित की है। कैसा है चेतना गुण ? वह समस्त विप्रतिपत्तियों का नाश करनेवाला है अर्थात् अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण के द्वारा सदा अंतरंग में प्रकाशमान है, इसलिये वह (जीव) चेतनागुणवाला है। वह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियों को (जीव को अन्य प्रकार से माननेरूप झगड़ों को) नाश करनेवाला है तथा ऐसा है जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, जो **समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानों अत्यंत तृप्ति से उपशांत हो गया हो, इसीलिये (अर्थात् अत्यंत स्वरूप में से बाहर निकलने का अनुद्यमी होता हुआ) सर्व काल में किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह सदा लेशमात्र भी चलित न होनेवाले अन्य द्रव्य से असाधारणता होने से जो (असाधारण) स्वभावभूत है।**

यह सब कथन काललब्धि को सिद्ध करने के लिये काफी है। अतः विशेष विवरण की आवश्यकता नहीं।

[१०]

और अब देखिये ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व से काललब्धि की सिद्धि

श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री प्रवचनसार (गाथा २००) में स्वयं दर्शाते हैं कि 'आत्मा स्वभाव से ज्ञायक है, ऐसा उसको जानकर मैं निर्ममत्व में उपस्थित होता हुआ ममता को त्यागता हूँ।' इस 'ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व की स्पष्टता पर श्री अमृतचंद्राचार्य अग्रलिखित शब्दों में प्रकाश डालते हैं, '.....अब चूँकि एक ही ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से प्रवर्तित होता हुआ, अनंत भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूहवाले अगाध-स्वभाव और गंभीर वह समस्त द्रव्यमात्र को मानों कि वे द्रव्य ज्ञायक में (१) उत्कीर्ण हो गये हों। (२) चित्रिता हो गये हों, (३) भीतर घुस गये हों, (४) कीलित हो गये हों, (५) डूब गये हों, (६) समा गये हों, और

(७) प्रतिबिम्बित हुये हों, ऐसा—एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा को) प्रत्यक्ष करता है।

ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण संबंधी अनिवार्यता के कारण ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य है। अतः विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी जो सहज अनंत शक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता, जो अनादि संसार से इसी स्थिति में (ज्ञायकभावरूप ही) स्थित है और जो मोह के द्वारा अन्यथा अध्यवसित हो रहा है, ऐसा मैं मोह को उखाड़कर अति निष्कंप रहता हुआ, शुद्ध आत्मा को यथास्थित रूप से प्राप्त करता हूँ।

इसप्रकार, दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है, ऐसे सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता के कारण अत्यंत अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से, जो साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत निज आत्मा को और सिद्धभूत परमात्माओं को, उसी में एक परायणता जिसका लक्षण है, ऐसा भाव नमस्कार सदैव स्वयमेव हो ॥२००॥

इस संपूर्ण विवेचन से सिद्ध हुआ कि जो जीव इसप्रकार काललब्धि आदि कारण सामग्री को नहीं मानता वह आत्मा की, उसके ज्ञायकस्वभाव की, चेतनागुण की, पंच परमेष्ठियों की, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान की, नौ तत्त्वों की और उपादान-निमित्त की भी सच्ची श्रद्धा नहीं करता। और इसीलिये उसे सम्यग्ज्ञान की मूलभूत दर्शनविशुद्धि की प्राप्ति नहीं होती। जब यह जीव भावभासनरूप भेदज्ञान के द्वारा स्वसन्मुख हो, तब उस कारण सामग्री को निमित्तकारण कहने में आता है।

—रामजी माणिकचंद दोशी

धर्मात्मा की धर्मपरिणति

धर्मात्मा को सम्यग्दर्शनपूर्वक जितनी वीतरागपरिणति हुई है, उतना धर्म है; उसके साथ शुभोपयोग भले हो, किंतु वह शुभोपयोग स्वयं कहीं धर्मपरिणति नहीं हैं।—ऐसा समझाकर फिर आचार्यदेव शुद्धोपयोग के फल का वर्णन करके उसमें आत्मा को प्रोत्साहित करते हैं। अहो, यह शुद्धोपयोग का आनंद!!

[प्रवचनसार, गाथा ११-१३ के प्रवचनों से]

धर्मपरिणति और शुद्धोपयोग परिणति में क्या अंतर है?—तो कहते हैं कि—धर्मपरिणति तो सम्यग्दर्शन होने पर धर्मात्मा को सदैव वर्तती रहती है, और शुद्धोपयोग परिणति तो कभी-कभी होती है; सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में शुद्धोपयोग परिणति सदा होती है। धर्मी को शुभोपयोग परिणति हो, तब भी धर्मपरिणति तो साथ में वर्तती ही है, परंतु शुभोपयोग के समय शुद्धोपयोग परिणति नहीं होती।

यहाँ कहा है कि—शुभोपयोग के समय भी धर्मपरिणति होती है; उससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि शुभोपयोग, वह धर्म है। धर्म तो अंतर में जितनी रागरहित परिणति हुई, उतना ही है; जो शुभराग रहा, वह तो विरुद्ध परिणति है, वह कहीं धर्म नहीं है। उस शुभराग में कहीं ऐसी शक्ति नहीं है कि मोक्षरूप कार्य कर सके। वह तो बंधन का ही कारण है। मोक्ष का कारण तो शुद्धपरिणति ही है।

धर्मपरिणत जीव को शुभोपयोग होता है, उसका क्या फल है—वह बतलाया; परंतु उसके कहीं धर्मपरिणत जीव के शुभोपयोग को आचार्यदेव ने धर्म नहीं कहा है; उस शुभ को तो विरोधी कार्य करनेवाला बतलाया है। अविरुद्ध कार्य ऐसा जो मोक्ष, उससे विरुद्ध कार्य अर्थात् बंधन। शुभराग, वह बंधन कर्ता है। शुद्धोपयोगरूप चारित्र तो मोक्षरूप स्वकार्य करने में समर्थ है; किंतु वह चारित्र अब शुभरागसहित हो, तब उस राग के सद्भाव के कारण अपने अविरुद्ध कार्य को नहीं साध सकता; शुभराग मोक्ष से विरुद्ध कार्य करनेवाला है।

अहो, आचार्यदेव ने इस गाथा में शुद्धपरिणति और शुभराग—दोनों का भिन्न-भिन्न फल बतलाकर अत्यंत स्पष्टता से समझाया है। शुद्धपरिणति का कार्य मोक्ष, और शुभपरिणति का कार्य बंध—इसप्रकार दोनों के मार्ग भिन्न हैं। भले ही एक जीव के दोनों भाव एकसाथ हों, किंतु दोनों का

कार्य भिन्न है। धर्मात्मा का शुभराग भी बंध का ही कारण है, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। तो फिर अज्ञानी के शुभ की तो बात ही क्या! ज्ञानी को शुभ के समय जितनी शुद्धपरिणति है, वह तो मोक्ष का ही अविरुद्ध कारण है।

जीव स्वयं परिणमनस्वभावी है; इसलिये धर्मपरिणतिरूप या शुभपरिणतिरूप से स्वयं ही परिणमित होता है; स्वयं ही अपने परिणमनस्वभाव से उन-उन भावों में तद्रूप होकर उस काल परिणमित होता है; किसी अन्य के कारण वे परिणाम नहीं होते। इसलिये निमित्त के कारण कोई भी परिणाम हो—यह बात नहीं रहती।

अब, स्वतः से जो परिणाम होते हैं उनमें, जो शुद्धपरिणाम हैं, वह तो धर्म है, वह मोक्ष का कारण है और उस समय जो शुभपरिणाम होते हैं, वह कहीं धर्म नहीं है, वह मोक्ष का कारण नहीं है; वह तो पुण्यबंध का कारण है।

अहा, कितनी स्पष्ट बात!! पर के कारण तेरे कोई परिणाम नहीं होते, और तेरे परिणाम में जो शुभ है, वह कोई धर्म नहीं है। स्वभाव का अवलंबन करके जितनी शुद्धपरिणति हुई, उतना ही धर्म है; उतना ही मोक्ष का कारण है और वही उपादेय है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को धर्म परिणति तो सदैव वर्तती ही है। वह धर्म परिणति होने पर भी जब उसके साथ राग होता है, तब उस धर्मात्मा को मोक्ष साधन में उतना विघ्न है। धर्मी जानता है कि यह शुभराग कहीं मेरी धर्मपरिणति नहीं है, मेरी धर्मपरिणति तो राग से परे है। शुभोपयोग तो बंध का कारण है, वह उपादेय नहीं है, शुद्धोपयोग ही उपादेय है, वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। शुद्धपरिणति और शुभपरिणति—इन दोनों की जाति ही भिन्न है। शुभपरिणति को तो समस्त जीव स्थूलरूप से जानते हैं; किंतु शुद्धपरिणति धर्मात्मा के अंतर में होती है, वह सूक्ष्म है, उस शुद्धपरिणति को अज्ञानी नहीं जानते; वे तो शुभ में और उसके फल में सुख मानकर रुक जाते हैं; राग से पार चैतन्य का अतीन्द्रिय—विषयातीत सुख क्या वस्तु है, उसे वह नहीं जानता। अरे, अशुभ के फल में तो नरकादि के घोर दुःख हैं; उनकी तो बात ही क्या! वे तो अत्यंत हेय हैं, दूर से ही छोड़ने योग्य हैं; और शुद्धपरिणति के साथ निकट वर्तता हुआ जो शुभ उपयोग उसका फल भी आकुलता ही है। इसलिये वह भी हेय है। शुद्धोपयोग का फल परम आनंद है, वही उपादेय है।

—ऐसे शुद्धोपयोग को आचार्यदेव ने आत्मसात् किया है अर्थात् अपने आत्मा को ऐसे शुद्धोपयोगरूप से परिणमित किया है। इसप्रकार शुद्धोपयोग को आत्मसात् करके आचार्यदेव

उसके फलरूप परम अतीन्द्रिय सुख की प्रशंसा करते हैं। अहो, शुद्धोपयोग के फल में ऐसा अतीन्द्रिय सुख है—ऐसा जानने पर आत्मा को उसका प्रोत्साहन मिलता है। कैसा है शुद्धोपयोग का सुख? वह १३वीं गाथा में कहते हैं—

अत्यंत, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुप, अनंतने।
विच्छेद हीन है सुख अहो! शुद्धोपयोग प्रसिद्धने॥१३॥

अनादि संसार से जो आनंद कभी एक क्षण भी अनुभव में नहीं आया—ऐसे अपूर्व, परम अद्भुत आनंद का अनुभव धर्मात्मा को शुद्धोपयोग में होता है। अहा, अतीन्द्रिय परम आह्लाद जिसका स्वाद जीव ने पूर्व अनादि संसार में कभी नहीं चखा—ऐसा परम आह्लाद शुद्धोपयोगी के स्वाद में आता है। अपने आत्मा से ही उस सुख की उत्पत्ति होती है। किन्हीं बाह्य विषयों के अवलंबन बिना, आत्मा में जो परम सहजसुख का समुद्र भरा है, उसी में से शुद्धोपयोग द्वारा वह अतीन्द्रियसुख प्रगट होता है। जिसमें किसी पर के आश्रय की अपेक्षा नहीं है, जिसमें इन्द्रियों का या इन्द्रिय विषयों का अवलंबन नहीं है, चैतन्य के अंतर में ही उपयोग लगाकर आत्मा स्वयं अपने आश्रय से परमानंदरूप परिणमित होता है। अहा! आत्मा के ही आश्रय से आत्मा का मोक्ष होता है। मोक्ष कहो या पूर्णानंद की प्राप्ति कहो, उसकी उत्पत्ति आत्मा के ही आश्रय से होती है। शुद्धोपयोग द्वारा ऐसा परम आनंद अनुभव में आता है। देखो तो, यह शुद्धोपयोग का फल! ऐसा अतीन्द्रिय सुख परम प्रशंसनीय है—ऐसा बतलाकर आचार्यदेव आत्मा को उसका प्रोत्साहन देते हैं। अहा, जिस सुख में कोई संकल्प-विकल्प नहीं हैं, आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की जिसमें अपेक्षा नहीं है—ऐसा परम सुख शुद्धोपयोगी के होता है।

इन्द्र के या चक्रवर्ती के वैभव का जो सुख है, उसकी अपेक्षा शुद्धोपयोग के सुख की जाति ही भिन्न है; उसके साथ किसी की तुलना नहीं की जा सकती, इसलिये वह सुख अनुपम है। ऐसे शुद्धोपयोग के फल को जानकर हे जीव! तू उसमें प्रोत्साहित हो! स्वभाव के आश्रय से जो सुख प्रगट हुआ, वह सदैव बना रहता है... अनंत काल तक स्थित रहता है... उसमें बीच में भंग नहीं पड़ता-विच्छेद नहीं होता। बाह्य में चाहे जैसी प्रतिकूलताओं का समूह हो, किंतु शुद्धोपयोग में लीन संतों का सुख विच्छिन्न नहीं होता। ऐसा परमसुख... वह कैसे प्रगट होता है?—तो कहते हैं कि शुद्धोपयोग द्वारा वह प्रगट होता है। अहा, चैतन्य का ऐसा सुख!! ऐसा आह्लाद!! ऐसा निरपेक्ष आनंद!! वह सर्वथा प्रार्थनीय है, परम उपादेय है। ऐसा सुख शुद्धोपयोग द्वारा प्राप्त होता है...

इसलिये उस शुद्धोपयोग में मोक्षार्थी जीव अपने आत्मा को प्रोत्साहित करता है। देखो, मोक्षार्थी का उत्साह शुभ का नहीं है, मोक्षार्थी को तो शुद्धोपयोग का ही उत्साह है.. ऐसे शुद्धोपयोग द्वारा प्राप्त होनेवाला परमसुख ही प्रार्थनीय है।

- ऐसा सुख किसे होता है ?–शुद्धोपयोगी को।
- शुद्धोपयोग किसे होता है ?–जिसे चारित्र हो उसे। (कभी कभी निचलीदशा में होता है, वह गौण है।)
- चारित्र किसे होता है ?–सम्यग्दर्शन हो उसे।
- सम्यग्दर्शन किसे होता है ?–जो अपने त्रैकालिक ज्ञानानंदस्वभाव का आश्रय करे उसे।
- इसलिये अंतर्मुख अभ्यास द्वारा अपने ज्ञानानंदस्वभाव का परम महिमापूर्वक आश्रय करना, वह मुमुक्षु का कर्तव्य है।
- ज्ञानानंदस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
- सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्रदशा होती है।
- चारित्रदशा में शुद्धोपयोग होता है।
- और शुद्धोपयोग द्वारा परम अचिंत्य अपूर्व इंद्रियातीत आनंद अनुभव में आता है।

नमस्कार हो ऐसे शुद्धोपयोगी संतों को !

सम्यग्दर्शन भी चैतन्य में एकाग्रता से होता है

अंतरंग अभ्यास द्वारा प्रथम चैतन्य की दृढ़ श्रद्धा करनी चाहिये। चैतन्य की सम्यक् श्रद्धा करने से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है, उसमें एक चैतन्य का ही आश्रय है, किसी अन्य द्रव्य का किंचित् आश्रय नहीं है।

××××

आत्मार्थी को तो प्रतिकूलता के पर्वत लांघकर भी चैतन्य आत्मा की खोज करना है।

मोक्ष के साधनरूप क्रिया

स्वभावोन्मुख होकर विकार के कर्तृत्व से भिन्न परिणमित ज्ञान, वह मोक्ष का कारण है। वह ज्ञान कैसा होता है ? तथा उस ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी की दशा कैसी होती है ? तथा जिसे ऐसा ज्ञान नहीं है, उस अज्ञानी की क्रिया कैसी होती है ?—वह यहाँ कर्ता-कर्म अधिकार के प्रवचनों में से प्रश्नोत्तररूप में सुगम शैली में दिया जा रहा है।

✻ कर्ता-कर्म अधिकार के प्रारंभ में किन्हें नमस्कार किया है ?

— जो विभाव का कर्ताकर्मपना मिटाकर ज्ञानमय हुए हैं तथा जिन्होंने सिद्धपद प्राप्त किया है—ऐसे सिद्ध भगवंतों को नमस्कार किया है।

✻ किसप्रकार नमस्कार किया है ?

—मद को दूर करके अर्थात् रागादि परभाव मेरा कार्य और मैं उनका कर्ता—ऐसी बुद्धिरूप जो मद, उसे दूर करके सिद्ध भगवंतों को नमस्कार किया है। जिसे राग की रुचि है, राग में कर्ताबुद्धि है, वह जीव ज्ञानमय सिद्ध भगवंतों को सच्चा नमस्कार नहीं कर सकता। ज्ञानस्वभाव की रुचि करके, ज्ञानभाव द्वारा ही सिद्ध भगवंतों को यथार्थ नमस्कार होता है।

✻ अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कर्ताकर्म अधिकार के प्रारंभ में किसकी महिमा की है ?

—सम्यग्ज्ञान की महिमा की है। उस सम्यग्ज्ञान ने चैतन्य को और क्रोधादि को भिन्न जानकर क्रोधादि में जो कर्तृत्व है, उसे नष्ट किया है, इसलिये वह सम्यग्ज्ञान महिमावंत है।

✻ अज्ञानी की प्रवृत्ति कैसी है ?

—चैतन्य और क्रोधादि में एकत्वबुद्धिरूप जो अज्ञान, उस अज्ञान के कारण 'चैतन्य कर्ता और क्रोधादि उसका कर्म'—ऐसी विभाव कर्ताकर्म की प्रवृत्ति अज्ञानी को है। अनादि से अज्ञानी की यह प्रवृत्ति ही संसार का मूल है।

✻ अज्ञानी की वह प्रवृत्ति कौन दूर करता है ?

—सम्यग्ज्ञान की ज्योति उस प्रवृत्ति को दूर करती है। मैं तो चैतन्य हूँ, क्रोधादि मैं नहीं हूँ—इसप्रकार जहाँ सम्यग्ज्ञान-ज्योति जागी, वहाँ वह ज्ञान ज्योति क्रोधादि के साथ की कर्ताकर्म की प्रवृत्ति को सर्व ओर से शांत कर देती है; विकार के एक अंश को भी वह चैतन्य में प्रविष्ट नहीं

होने देती। वह ज्ञान ज्योति किसी के आधीन नहीं है, राग के आधीन नहीं है; रागादि की आकुलता उसमें नहीं है; इसलिये वह निराकुल है; और चाहे जैसी प्रतिकूलता में भी वह ज्ञानज्योति चलायमान नहीं होती, वह अत्यंत धीर है तथा इन्द्रियों की और राग की सहायता के बिना ही वह स्व-पर समस्त पदार्थों को जानती है। ऐसी ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई, वह महामंगल है।

✻ यह कर्ताकर्म अधिकार कैसा है ?

—यह ७६ गाथाओं का अधिकार भरतक्षेत्र में अद्वितीय है। यह कर्ताकर्म का स्पष्ट स्वरूप समझाकर भेदज्ञान कराता है और विकार के साथ कर्ताकर्मपने की प्रवृत्तिरूप अज्ञान को छुड़ाता है।

✻ ज्ञानी को कैसा कर्ताकर्मपना है ?

ज्ञानी को तो अपने ज्ञानमयभाव के साथ ही कर्ताकर्मपना है। ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय हैं। ज्ञान से भिन्न परभावों के साथ या परद्रव्यों के साथ ज्ञानी को कर्ता-कर्मपना नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका कार्य भी ज्ञानमय ही होता है, क्रोधमय नहीं होता; इसलिये ज्ञानस्वरूप आत्मा को जाननेवाले ज्ञानी को अपने ज्ञानभाव के साथ ही कर्ताकर्मपना है।

✻ किस जीव को कर्मों का बंध होता है ?

—जो जीव चैतन्यस्वरूप आत्मा को आस्रवों से भिन्न नहीं जानता और क्रोधादि आस्रवों में लीन होकर वर्तता है, वह जीव अज्ञानभाव के कारण कर्मों से बँधता है—ऐसा भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं।

✻ आत्मा और ज्ञान का कैसा संबंध है ?

—आत्मा और ज्ञान का तादात्म्यसिद्ध संबंध है, इसलिए उनमें पृथक्ता नहीं है; आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान, वह आत्मस्वरूप है—इसप्रकार ज्ञान की और आत्मा की एकतारूप तादात्म्यता है।

✻ ज्ञानक्रिया कैसी है ?

—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जानकर उस ज्ञान में निःशंकरूप से अपनेरूप वर्तना, सो ज्ञानक्रिया है, और वह ज्ञानक्रिया तो आत्मा के स्वभावभूत है; वह आत्मा के साथ अभेद है; उसे आत्मा से पृथक् नहीं किया जा सकता।

✻ मोक्षमार्ग में किस क्रिया का निषेध नहीं किया गया है ?

—ज्ञानक्रिया का निषेध मोक्षमार्ग में नहीं किया है।

✻ मोक्षमार्ग में किस क्रिया का निषेध किया गया है ?

—क्रोधादि के साथ एकत्वरूप वर्तनेरूप जो करोतिक्रिया है, उसका मोक्षमार्ग में निषेध किया गया है।

✻ ज्ञानक्रिया का निषेध क्यों नहीं किया गया है ? और करोतिक्रिया का निषेध किसलिये किया है ?

—ज्ञानक्रिया आत्मा के स्वभावभूत होने से उसका निषेध नहीं किया है और करोतिक्रिया परभावभूत होने से उसका निषेध किया है। ज्ञानक्रिया मोक्ष का कारण है और क्रोधादि क्रिया बंध का कारण है। ज्ञानक्रिया संवर-निर्जरारूप है और क्रोधादि क्रिया आस्रवरूप है। ज्ञानक्रिया तो आत्मा में एकमेकरूप है और क्रोधादि क्रिया आत्मा से भिन्नरूप है; इसलिये ज्ञानक्रिया का तो मोक्षमार्ग में स्वीकार है, किन्तु अज्ञानरूप ऐसी क्रोधादिक्रिया का मोक्षमार्ग में निषेध किया गया है। जो जीव क्रोधादिक्रिया में वर्तता है, उसे मोक्षमार्ग नहीं होता।

✻ क्रोधादि आस्रवों के साथ आत्मा का कैसा संबंध है ?

—क्रोधादि आस्रव चैतन्यस्वभाव से अत्यंत भिन्न हैं, उनके साथ आत्मा को एकता का संबंध नहीं हैं, किंतु संयोगरूप संबंध है।

✻ अज्ञानी कैसी क्रिया करता है ?

—आस्रव परभावभूत हैं और आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं, तथापि अज्ञानी उन्हें आत्मा के साथ एकमेक मानता हुआ, निःशंकरूप से क्रोधादि परभावों में अपनेरूप से वर्तता है; इसप्रकार क्रोधादि में वर्तता हुआ वह क्रोधादि क्रिया को करता है। अज्ञानी की यह अज्ञानमय क्रिया कर्मबंध का और संसार का कारण है।

✻ जगत में क्रिया के सामान्यरूप से कितने प्रकार हैं ?

—जगत में सामान्यरूप से तीन प्रकार की क्रिया है—

(१) स्वभाव क्रिया—ज्ञानादि भावों की क्रिया, वह स्वभाव क्रिया है।

(२) विभाव क्रिया—क्रोधादि भावों की क्रिया, वह विभाव क्रिया है।

(३) जड़ की क्रिया—शरीरादि की क्रिया, वह जड़ की क्रिया है।

✻ किस क्रिया का कौन कर्ता है ?

—(१) ज्ञानी ज्ञानादि स्वभावक्रिया का कर्ता है।

(२) अज्ञानी क्रोधादि विभावक्रिया का कर्ता है।

(३) जड़ की क्रिया का कर्ता जड़ है, कोई जीव उसका कर्ता नहीं है। ज्ञानी या अज्ञानी कोई जीव, शरीरादि जड़ की क्रिया नहीं कर सकता।

✻ इस तीन प्रकार की क्रिया में से कौन क्रिया किसका कारण है ?

—(१) ज्ञानादि स्वभाव क्रिया, वह मोक्ष का कारण है।

(२) क्रोधादि परभाव क्रिया, वह संसार का कारण है।

(३) जड़ की क्रिया जीव से पृथक् है, वह बंध का या मोक्ष का कारण नहीं है। जीव को बंध-मोक्ष शरीरादि की क्रिया से नहीं होते किंतु अपने अशुद्ध या शुद्धभाव से ही होते हैं। [ज्ञाता स्वभाव की अरुचि, कर्तापने की रुचि, रागादि मेरा कर्तव्य है—ऐसी पराश्रय की बुद्धि अनंतानुबंधी क्रोधरूप परभाव की क्रिया है।]

✻ ज्ञानक्रिया कैसी है ?

—ज्ञानक्रिया आत्मा के स्वभावभूत है, स्वभाव के आश्रय से उसकी उत्पत्ति है, और स्वभाव के साथ उसे तादात्म्य (एकता) है, इसलिए वह क्रिया आत्मा से पृथक् नहीं हो सकती, उसका निषेध नहीं हो सकता।

✻ विभावक्रिया कैसी है ?

—विभावक्रिया परभावरूप है, वह स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न नहीं होती, किंतु कर्म के साथ आश्रय से उत्पन्न होती है; उसे स्वभाव के साथ एकता नहीं किंतु भिन्नता है; इसलिये उस क्रिया का निषेध किया गया है अर्थात् भेदज्ञान करके स्वभाव का आश्रय करने से वह विभावक्रिया छूट जाती है, इसलिये उसका निषेध हो जाता है।

✻ भेदज्ञानी कहाँ वर्तता है ?

—भेदज्ञानी तो आत्मा के चैतन्यस्वभाव तथा रागादि परभाव—इन दोनों को भिन्न-भिन्न लक्षण द्वारा भिन्न जानता हुआ चैतन्यस्वभाव में ही निःशंकरूप से वर्तता है और रागादि भावों को अपने से अत्यंत भिन्न जानता हुआ उनमें अपनत्वरूप से-एकत्वरूप से किंचित् नहीं वर्तता और अज्ञानी जीव चैतन्यस्वभाव तथा रागादि के भिन्न लक्षण को न जानता हुआ, दोनों को एकमेक मानता हुआ, ज्ञान की भाँति रागादि में ही अपनत्वरूप से निशंक वर्तता है, किंतु राग से ज्ञान को पृथक् करके चैतन्यस्वभाव में एकता नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञानस्वभाव में ही एकता करके

ज्ञानक्रियारूप वर्तता है और अज्ञानी क्रोधादि में ही एकतारूप से वर्तता हुआ अज्ञानमय ऐसी क्रोधादि क्रिया को करता है।

✻ इसमें निश्चय-व्यवहार किसप्रकार हैं ?

—ज्ञानी को स्वभाव के आश्रय से होनेवाली जो शुद्ध-ज्ञानक्रिया, वह शुद्ध उपादान है और वह निश्चय है, वह आत्मा के आश्रित होने से शुद्ध निश्चय है तथा जो रागादि अशुद्धक्रिया है, वह अशुद्ध उपादान है और वह अशुद्धनिश्चय है। शुद्धनिश्चय की दृष्टि में तो अशुद्धनिश्चय भी व्यवहार में ही जाता है और वह व्यवहार पराश्रित होने से (कर्म के आश्रित होने से) वह भी कर्म की भाँति पर ही है। इसप्रकार एक ओर शुद्ध उपादान, वह 'स्व' और दूसरी ओर अशुद्धता तथा उसके निमित्त—वह सब 'पर'—ऐसा स्पष्ट भेदज्ञान कराया है।

शुद्ध दृष्टि से देखने पर आत्मा विकार का कारण नहीं है, तथा विकार द्वारा उसका निर्मल कार्य हो—ऐसा भी नहीं है। चैतन्यस्वभाव की ओर जो पर्याय ढली, वह निर्मल पर्याय राग का कारण नहीं है, तथा राग, वह निर्मल पर्याय का कारण नहीं है। इसकारण विकार के साथ कारण-कार्य रहित ऐसी अकार्य-कारणत्वशक्ति आत्मा में है। जहाँ विकार के साथ भी आत्मा को कारण-कार्यपना शुद्धदृष्टि में नहीं है, वहाँ पर के साथ तो कारण-कार्यपना कैसा ?—ऐसे शुद्ध आत्मा की दृष्टि में विकार की उत्पत्ति ही नहीं होती; इसलिये उस विकार क्रिया का निषेध सहज ही हो जाता है।

✻ अज्ञानी को काहे का अभ्यास है ?

—स्वभाव में अभावरूप ऐसी जो विकार क्रिया, उसका आत्मा में निषेध होने पर भी अज्ञानी को उस विकार क्रिया का ही अनादि से अभ्यास है, इसलिये उसे वह निःशंकरूप से अपनी मानकर वर्तता है; जरा भी विचार नहीं करता कि मैं तो ज्ञान हूँ और राग मेरी क्रिया कैसे हो सकती है ? राग ही मेरा स्व है—इसप्रकार उसमें निःशंकरूप से अज्ञानी वर्तता है; किंतु राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव का उसे अभ्यास नहीं है, उसका परिचय नहीं है; स्वभाव में से राग छूट सकता है, उसका उसे विचार भी नहीं है; इसलिये वह रागरूप, क्रोधरूप, मोहरूप तन्मय होकर परिणमित होता है, अर्थात् ये करने योग्य है, ऐसा मानता ही है। देखो, यह अज्ञानी का अभ्यास! स्वभाव की विद्या को भूलकर अकेले विकारीभावों का ही अभ्यास है, विकार की ही उसे आदत है।

✻ धर्मात्मा को कैसा अभ्यास होता है ?

—मेरा आत्मा शांति का समुद्र चैतन्यस्वरूप है और क्रोधादि परभाव मुझे अशांति करनेवाले हैं, वे मेरे चैतन्यस्वरूप से बाहर हैं—पृथक् हैं—ऐसा भेदज्ञान का अभ्यास धर्मात्मा को होता है। यह भेदज्ञान का अभ्यास मोक्ष का कारण है। समस्त परभावों को अपने से अत्यंत भिन्न जानकर धर्मात्मा उन्हें छोड़ता है और ज्ञानस्वभाव में निःशंकरूप से तन्मय होकर वर्तता है। उसे ज्ञान में एकता का अभ्यास है, ज्ञानभाव की आदत है, भेदज्ञान के अभ्यास से उपयोग को अंतरोन्मुख करके वह मोक्ष की साधना करता है—ऐसा धर्मात्मा का अभ्यास है।

✻ अज्ञानी काहे का त्याग करता है ?

—क्रोधादि व्यापार में लीन होकर परिणमित होता हुआ अज्ञानी जीव, आत्मा की जो ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन दशा, उसका त्याग करता है अर्थात् अंतर्मुख होकर ज्ञातादृष्टाभावरूप से परिणमित नहीं होता किंतु अज्ञानरूप से परिणमित होता है।

✻ ज्ञानी काहे का त्याग करता है ?

—भेदज्ञान के बल द्वारा क्रोधादि से अत्यंत भिन्न परिणमित होता हुआ, ज्ञानस्वभाव की सन्मुखतारूप—ज्ञानमात्र क्रियारूप परिणमित होता हुआ, सहज उदासीनदशा को ग्रहण करता है, और परभावभूत विकारी क्रिया का त्याग करता है अर्थात् उस रूप परिणमित नहीं होता।

✻ अज्ञानी को क्रोधादि कैसे भासित होते हैं ?

—जिसे क्रोधादि से भिन्न सहजज्ञान की खबर नहीं है—ऐसे अज्ञानी को वे क्रोधादिभाव अपने अंतरंग में अपने कार्यरूप प्रतिभासित होते हैं। क्रोधादिभाव हैं तो चैतन्य से बहिरंग, किंतु अज्ञानी को वे अंतरंगरूप भासित होते हैं—मानों यह क्रोधादि मेरे चैतन्य का ही कार्य हो, चैतन्य द्वारा ही वे किये जाते हों—ऐसा अज्ञान के कारण प्रतिभासित होता है। इसप्रकार वह अज्ञानी क्रोधादिभावों का कर्ता होकर उन्हें अपना कर्म बनाता है। इतनी अज्ञानी के कर्ताकर्मपने की हद है किंतु बाह्य में शरीरादि परद्रव्यों के साथ तो उसे किंचित् कर्ताकर्मपना नहीं है।

✻ ज्ञानी को क्रोधादिभाव कैसे भासित होते हैं ?

—क्रोधादि से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव को जाननेवाला ज्ञानी धर्मात्मा, क्रोधादि को अपने स्वभाव से बाह्य देखता है; क्रोधादि भाव उसे स्वभावरूप भासित नहीं होते किंतु संयोगरूप भासित होते हैं। विकार का अंश भी उसे अपने स्वभावरूप भासित नहीं होता। वह जानता है कि –

मेरा सुशाश्वत एक दर्शन-ज्ञानलक्षण जीव है,
शेष सब संयोगलक्षण भाव मुझसे बाह्य हैं।

✻ आत्मा का और ज्ञान का कैसा संबंध है ?

—आत्मा और ज्ञान का नित्य तादात्म्यसंबंध है, अर्थात् दोनों में एकता है। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञान से उसकी किंचित् भिन्नता नहीं है।

✻ आत्मा का और रागादिभावों का कैसा संबंध है ?

—पर्याय अपेक्षा से देखें तो रागादिभाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, इसलिये उनका पर्याय के साथ क्षणिक तादात्म्यसंबंध है; किंतु आत्मा के शुद्धस्वभाव की दृष्टि से देखने पर उसमें राग का अभाव ही है; क्षणिक तादात्म्यसंबंध भी नहीं है, वे तो मात्र संयोगसंबंधरूप हैं। जिसप्रकार चैतन्यस्वभाव में देहादि संयोग का अभाव है, उसीप्रकार रागादि का भी अभाव है; भेदज्ञानी जीव आत्मा के स्वभाव का राग से भिन्न ही अनुभव करता है।

✻ जीव का कर्म के साथ कैसा संबंध है ?

जीव का शुद्धचैतन्यस्वभाव तो कर्मबंध का निमित्त भी नहीं है, अर्थात् शुद्धदृष्टि से तो जीव का कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी नहीं है, और भेदज्ञान करके जिसने चैतन्यस्वभाव में एकतारूप प्रवृत्ति प्रगट की है, ऐसे ज्ञानी के ज्ञान परिणाम भी कर्मबंध का निमित्त नहीं होते, उसे कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध टूट गया है। जो अज्ञानी है, जिसे भिन्न चैतन्य का भान नहीं है, राग में एकतारूप से जो वर्तता है—ऐसे के अज्ञानमय रागादि परिणाम, वह कर्मबंध का निमित्त है—इसप्रकार अज्ञानी जीव के अज्ञानमय परिणामों का ही कर्मबंध के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, परंतु उसे भी जड़ कर्म के साथ कर्ताकर्मपना तो है ही नहीं।

✻ विकार के साथ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति कब तक है ?

—जब तक आत्मा का और विकार का भेदज्ञान नहीं है, तभी तक अज्ञानी को विकार के साथ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। और जब तक ऐसी कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, तभी तक बंधन तथा संसार रहता है।

—अब, ऐसी अज्ञानप्रवृत्ति कब छूटती है ?—यह प्रश्न जिज्ञासु शिष्य पूछेगा और आचार्यदेव उसका उत्तर देंगे।

प्रभो! तुम्हारे मार्ग पर आ रहा हूँ

[वींछिया ग्राम (सौराष्ट्र) में वैशाख कृष्णा ११ सं. २००९ के दिन पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

जिसे धर्म करना है, जिसे शुद्धात्मा का अनुभव करने की उत्कंठा जागृत हुई है—ऐसे शिष्य को आचार्यदेव उसकी रीति समझाते हैं। भाई, जो यह बंधन और अशुद्धता के भाव हैं, वे क्षणिक तथा ऊपर-ऊपर की अवस्था जितने हैं; वे कहीं मूल चिदानंदस्वभाव के साथ एकमेक नहीं हैं; इसलिये शुद्धनय द्वारा अंतर में भूतार्थस्वभाव के समीप जाने से उस अशुद्धतारहित आत्मा का अनुभव होता है। शुद्धनय के अनुभव में वे अशुद्धभाव, भेद या संयोग साथ नहीं आते। शुद्धात्मा की अनुभूति का मार्ग भिन्न है और बंधन का मार्ग भिन्न है। नवों तत्त्वों के मार्ग अर्थात् नवों तत्त्वों के लक्षण भिन्न-भिन्न कहे गये हैं।

भगवान! तेरा स्वभाव एकांत बोधिबीजरूप है; ऐसे स्वभाव के निकट जा... तो तुझे शुद्धात्मा की अनुभूति होगी। भाई, दूसरा सब तो तूने अनंत बार किया, किंतु ऐसे आत्मा की अनुभूति पहले कभी नहीं की। तुझे जन्म-मरण के फेरे मिटाना हों तो ऐसे आत्मा का अवलोकन कर। अंतर में देखे तो वहाँ अंधकार नहीं, किंतु चैतन्य प्रकाश का पुंज है, जो स्वयं सबको जानता है। 'अंधेरा है'—ऐसा जाननेवाला स्वयं अंधकाररूप है या चैतन्य प्रकाशरूप है? चैतन्य प्रकाश के बिना अंधेरे को जाना किसने? यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, एक बार शुद्धनय द्वारा विभाव से पृथक् होकर स्वभाव में एकाकार हो तो तेरा आत्मा तुझे शुद्धरूप से अनुभव में आयेगा।

ऐसा मनुष्य अवतार पाकर सत्समागम से आत्मा की पहिचान करना चाहिये। आत्मा की प्रतीति सूक्ष्म और अपूर्व है, परंतु जो पात्र होकर अंतरंग रुचि द्वारा सत्समागम से करना चाहे, उसे आत्मप्रतीति हो सकती है। देखो भाई, स्त्री पर्याय में आठ वर्ष की बालिका को भी ऐसा आत्मज्ञान हो सकता है। आत्मा कहाँ स्त्री या पुरुष है? स्त्री पर्याय होने पर भी अलौकिक प्रतीति और पूर्वभव का ज्ञान हो सकता है 'हम स्त्री हैं, हम से नहीं हो सकता'—ऐसा नहीं मानना चाहिये। आत्मा में अनंत शक्ति है। कहा है कि—

जहाँ चेतन तहाँ सर्व गुण, केवलि भाषे अेम;
प्रगट अनुभव आत्मा, निर्मल करो सप्रेम रे...
चैतन्य प्रभु! प्रभुता है तेरी तेरे धाम में...

अंतर के चैतन्यधाम में अनंत गुणों की प्रभुता भरी है... सर्वज्ञता और पूर्ण आनंद प्रगट होता है, वह कहाँ से आता है ? अंतरंगस्वभाव में शक्ति भरी है; उसी में से वह प्रगट होती है। जहाँ भरा हो, वहाँ से प्रगट होता है। इसलिये हे जीव! तू ऐसी श्रद्धा कर कि—ऐसे अपने स्वभाव में दृष्टि डालना योग्य है। प्रथम यह बात लक्ष्य में ले... विचार में ले... अंतर अनुभव में ले... तो तुझे अपूर्व शांति और आनंद होगा।

अपने ज्ञान का अनुभव अपने ज्ञान द्वारा ही होता है, अन्य द्वारा नहीं होता। जिसप्रकार शरीर के ठंडे-गर्म स्पर्श का अनुभव शरीर के अंगरूप ऐसी अंगुली द्वारा होता है, किंतु लकड़ी द्वारा या नख द्वारा नहीं होता। उसीप्रकार ज्ञानशरीरी भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव इन्द्रियों द्वारा या राग द्वारा नहीं होता, किंतु ज्ञान के ही अंशरूप ऐसे सम्यक् मति-श्रुतज्ञान द्वारा ही वह अनुभव होता है। जड़ इन्द्रियाँ तो लकड़ी की भाँति हैं, उनके द्वारा चैतन्य का स्पर्श नहीं होता। राग भी चैतन्य का सच्चा अंग नहीं है, वह तो बढ़े हुए नख जैसा विकार है। इन्द्रियों से परे और राग से पृथक् ऐसा जो अकेला ज्ञान, उसी के द्वारा ज्ञान के अतीन्द्रिय स्वाद का वेदन होता है। जड़ की क्रिया तो चैतन्यस्वभाव से अत्यंत दूर है और शुभविकल्प भी चैतन्यस्वभाव से दूर है, उनके द्वारा स्वभाव के निकट नहीं पहुँचा जाता; शुद्धनयरूपी ज्ञान द्वारा ही स्वभाव के समीप पहुँचा जा सकता है। ऐसा अनुभव करने के लिये पहले अंतर में जिज्ञासा जागृत होना चाहिये। ऐसे अनुभव का मार्ग बतलानेवाले देव कैसे होते हैं, वैसा अनुभव करनेवाले साधक संत कैसे होते हैं और रागादि रहित वीतरागभावरूप धर्म कैसा होता है ?—उन सबकी अपने को पहिचान होना चाहिये। अहा, जिसप्रकार निर्मल स्फटिक की मूर्ति में दाग नहीं होते, उसीप्रकार भगवान आत्मा निर्मल चैतन्यबिम्ब है, उसमें कषाय का अभाव है। ऐसे स्वभाव के अनुभव से जो अकषायी शांतदशा विकसित हो, उसका नाम धर्म है। उसमें पुण्य-पाप के कषायभावों की उपाधि नहीं है। चौथे गुणस्थान से ही सम्यक्त्वी जीव ऐसी दशा प्राप्त कर लेता है।

अरे, वर्तमान में तो इस भरतक्षेत्र में साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा का विरह पड़ा है! दो हजार वर्ष पहले आचार्य कुन्दकुन्द महान दिगम्बर संत हुए हैं; वे मद्रास के निकट पोन्नूर हिल पर निवास करते हुए ज्ञान-ध्यान में लीन रहते थे। वहाँ से वे विदेहक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकर श्री सीमंधरस्वामी के समवसरण में गये और आठ दिन तक रहकर भगवान की ॐकार वाणी का श्रवण करके फिर इन समयसारादि महान शास्त्रों की रचना की है। शरीर से भिन्न चैतन्य पिण्ड के आनंद में झूलते-

झूलते उन्होंने इन शास्त्रों की रचना की है। यह सब बातें साक्षात् प्रामाण सहित सिद्ध हो चुकी हैं, किंतु अभी सिद्ध करने का समय नहीं है। यहाँ तो आत्मा का अनुभव कैसे हो, यह बात चल रही है। अरे, इस भरतक्षेत्र में भगवंतों का विरह... तत्त्वरसिक जीव भी बहुत कम गिने-चुने हैं... चैतन्य को कैसे जानें और कैसे अनुभव किया जाये ?—ऐसे रुचिवान जीव भी अति अल्प हैं... और तत्त्व में विघ्न डालनेवाले जीव अनेक हैं... हे जिनदेव! हे विदेहीनाथ! विषमता इस भरतक्षेत्र में वर्त रही है... आप तो यह सब जानते हैं... इसमें से मार्ग निकालकर प्रभो! अब मैं तुम्हारे मार्ग पर आ रहा हूँ... चैतन्यस्वभाव की निकटता करके तुम्हारे मार्ग की साधना कर रहा हूँ।

अहा, परम चैतन्य निधान अंतर में साक्षात् विद्यमान है, किंतु विकार की रुचि में अटके हुए जीव उस निधान का उल्लंघन कर जाते हैं... जगत का नाथ चैतन्यभगवान विकार की रुचि में अंधा होकर जगत् में भटक रहा है... ज्ञानी गुरु-संत शुद्धनय द्वारा उसकी आँखें खोलते हैं कि—देख रे देख! अपने इस चैतन्य निधान को अपने में देख। अहा, यह वीतराग की वाणी चैतन्य के निधान बतलाती है—

वचनामृत वीतरागनां, परम शांतरस मूल;
औषध जे भवरोगनां, कायर ने प्रतिकूल।

वीतराग की वाणी को झेलकर जो अंतर्मुख हो, उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और अपूर्व आनंद का अनुभव होता है... उसका अनादि कालीन विष उतर जाता है। सम्यग्दर्शन पूर्णानंद स्वरूप संपूर्ण आत्मा को प्रतीति में ले लेता है। ऐसे स्वभाव के अनुभव का अंतर में अभ्यास करना, वह प्रभुता का मार्ग है। ऐसे अंतर अनुभव द्वारा ही सर्वज्ञ प्रभु के मार्ग पर चला जा सकता है।

सम्यग्दृष्टि का पंथ जगत से निराला है

यह जगत बाह्य विषयों में एकाग्र होकर राग-द्वेष-मोह में अटक रहा है। धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि अंतर्विषय में चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होकर मोक्षमार्ग की साधना करते हैं।

अनुभव के लिये शिष्य की मंगल-उमंग

अनुभव की मंगल-उमंग से शिष्य प्रश्न करता है कि—भगवन्! पक्षातिक्रांत का स्वरूप क्या है? पक्षातिक्रांत जीव कैसा होता है? उसकी अनुभूति कैसी होती है? देखो, निर्विकल्प आनंद के अनुभव के लिये शिष्य को मंगल-उमंग उठी है... ऐसे अनुभव की उमंगपूर्वक प्रश्न उठा, वह प्रश्न भी मंगल है... गुरु के प्रति अत्यंत आस्था है और अनुभव की उत्कंठा है... अनुभव के निकट आकर गुरु से पूछता है कि—प्रभो! निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप क्या है और उस अनुभव की रीति क्या है? जो पक्षातिक्रांत होने के लिये किनारे खड़ा है, ऐसे शिष्य का हृदय भी मंगल है और वह अनुभव के लिये ऐसा प्रश्न पूछता है। उसके उत्तर में आचार्यदेव १४३ वीं गाथा में निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप बतलाते हैं:—

देखो, यह महान उत्तम गाथा है। सम्यक् श्रुतज्ञानी की अनुभव काल में केवली भगवान से तुलना की है। चतुर्थ गुणस्थान के धर्मात्मा भी अनुभव काल में केवली भगवान जैसे पक्षातिक्रांत है। जिसप्रकार केवली भगवान कोई विकल्प नहीं करते, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी धर्मात्मा भी किसी विकल्प को उपयोग के साथ एकमेक नहीं करते।

अहा, ऐसी अनुभूति में कैसे आनंद के झरने छूटते हैं, उसे तो धर्मात्मा ही जानते हैं। धर्मात्मा अपनी अनुभूति में चिदानंदतत्त्व का ही ग्रहण करते हैं, विकल्पमात्र का ग्रहण नहीं करते, मात्र जानते ही हैं। 'विकल्प को जानते हैं'—ऐसा कहा, परंतु अनुभव के काल में कहीं विकल्प की ओर उपयोग नहीं है। उपयोग का विकल्प से भिन्न ही अनुभव करते हैं; उसके साथ विकल्प को किंचित् एकमेक नहीं करते, इसलिये ऐसा कहा है कि—विकल्प को जानते हैं परंतु ग्रहण नहीं करते।

जिसमें चैतन्य की शांति का स्वाद न आये, उससे क्या प्रयोजन? पर से तो आत्मा के प्रयोजन की कुछ सिद्ध नहीं होता; बाह्य राग से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, और अंतर में 'मैं शुद्ध हूँ' इत्यादि विकल्पों द्वारा भी चैतन्य के अनुभव का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। धर्मात्मा समस्त विकल्पों के पक्ष को लाँघकर चैतन्य का अनुभव करता है—उसका यह वर्णन है। जिसप्रकार भगवान केवलज्ञानी परमात्मा केवलज्ञान द्वारा समस्त नयपक्षों को मात्र जानते ही हैं, किंतु अपने में उन नयपक्ष के विकल्पों का किंचित् ग्रहण नहीं करते, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी को स्वोन्मुखता में

स्वभाव के ग्रहण का उत्साह है और विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है; केवली भगवान तो श्रुतज्ञान की भूमिका को ही लाँघ गये हैं, इसलिये उन्हें विकल्प का अवकाश ही नहीं है और श्रुतज्ञानी को यद्यपि श्रुतज्ञान की भूमिका है, तथापि उस भूमिका में उठते हुए विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है; ज्ञान विकल्प के आश्रय से छूटकर स्वभाव के आश्रय में झुका है। भगवान सर्वज्ञदेव सदा विज्ञानघन हुए हैं और श्रुतज्ञानी भी अनुभव काल में विज्ञानघन हैं, इसलिए वे भी पक्षातिक्रांत हैं; श्रुतज्ञानी की ऐसी आत्मदशा होती है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

भाई, निमित्त के आश्रय से लाभ होता है, यह बात तो कहाँ रह गई, परंतु शांतरस के पिण्ड चैतन्य को अंतर के शुद्धनय के विकल्प के आश्रय से भी किंचित् लाभ नहीं है। साक्षात् चैतन्य से भेंटने का मार्ग अंतर में कुछ और ही है। चैतन्यस्वरूप में आरूढ़ होकर शांतरस के वेदन की दशा में किसी विकल्प का पक्ष नहीं रहता, उसका नाम पक्षातिक्रांत समयसार है; वही निर्विकल्प प्रतीतिरूप से परिणमित परम आत्मा है, वही ज्ञानभावरूप परिणमित होने से ज्ञान आत्मा है, वह विकल्प से भिन्न चैतन्य ज्योतिरूप है, उसके अनुभव में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि है। विकल्प में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं थी, उसमें तो आकुलता थी और अंतर के निर्विकल्प अनुभव में आत्मा की प्रसिद्धि हुई है। ऐसी अनुभूतिस्वरूप शुद्ध आत्मा है, वही समयसार है।

अहो, प्रथम यह चैतन्य के अनुभव की रीति बराबर लक्ष में लेकर दृढ़ निर्णय करना चाहिये। मार्ग का सच्चा निर्णय भी न करे, उसे अनुभव कहाँ से होगा? लक्ष करके प्रयोग करने से परिणमन होता है; यह एक ही अनुभव की रीति है—अन्य कोई रीति नहीं है। जिसने अनादि से सम्यग्दर्शन प्राप्त न किया हो, वह इसी रीति से सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। इस रीति से जीव नरक में भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। स्वर्ग में, मनुष्यगति में या तिर्यंचगति में भी इसी रीति से सम्यग्दर्शन तथा आत्मानुभव की प्राप्ति होती है। स्वर्ग-नरकादि में जातिस्मरण आदि को सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण कहा है, वह उपचार से है, किंतु वह नियम से कारण नहीं है। अरे, विकल्प भी साधन नहीं है, तो फिर बाह्य साधन कौन से लिये जायें? 'मैं शुद्ध परमात्मा सच्चिदानन्द हूँ'—ऐसा विकल्प भी वास्तव में परलक्षी-पराश्रयी भाव है, वह भी अनुभव का साधन नहीं है। श्रुतज्ञान को स्वोन्मुख करना ही एक अनुभवा का साधन है। विकल्पातीत होकर चैतन्य का स्वसंवेदन करे, तब श्रुतज्ञानी भी केवली भगवान की भाँति पक्षातीत विकल्पातीत है, वह भी वीतराग समान ही है।

※ जो जीव एकांत एक नय को पकड़कर नय पक्ष के विकल्प में ही अटक जाता है किंतु विकल्प से पृथक् होकर ज्ञान को स्वोन्मुख नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

※ विकल्प से पृथक् होकर स्वोन्मुखरूप से जिसने चैतन्य का अनुभव किया है, प्रज्ञाछैनी द्वारा ज्ञान और विकल्प को पृथक्-पृथक् कर दिया है, उस ज्ञानी को जब निर्विकल्प अनुभव का काल नहीं होता, तब नयपक्ष के जो विकल्प उठते हैं, वह चारित्रमोह जितना राग है, किंतु धर्मात्मा को उस विकल्प के ग्रहण का उत्साह नहीं है, वह विकल्प को साधन नहीं मानता और उसका कर्ता नहीं होता; उनका ज्ञान विकल्प से पृथक् ही पृथक् परिणमित होता है।

※ और जब नयपक्ष संबंधी समस्त विकल्पों से पार होकर स्वसंवेदन द्वारा ध्यान में हो, तब तो श्रुतज्ञानी भी वीतराग-समान ही है। अबुद्धिपूर्वक के विकल्प भले पड़े हो, किंतु उसके उपयोग में किसी विकल्प का ग्रहण नहीं है; निर्विकल्प अनुभव में अकेले परम आनंद का ही अनुभव करते हैं।

देखो भाई, आत्मा के अनुभव का यह मार्ग अनादि-अनंत एक ही प्रकार का है। अहो, अनंत सर्वज्ञों द्वारा कथित, संतों द्वारा सेवित, तीर्थंकर भगवंतों और कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे संतों की वाणी में आया हुआ यह मार्ग है।

बारह वैराग्य भावनाओं में कहते हैं कि—भाई, बाह्य पदार्थ तो तुझे शरणभूत नहीं है, किंतु अंतर के विकल्प भी अशरणरूप हैं। यह शरीर क्षणभर में बिखर जायेगा, वह तो तुझे अशरण है, उससे तेरा अन्यत्व है। और अंतर के विकल्प भी अशरण-अध्रुव और अनित्य हैं, उनसे तेरा चैतन्य का अन्यत्व है—ऐसा जानकर अपने चैतन्य की ही भावना भा! तेरे चैतन्यधाम में अनंत केवलज्ञान तथा पूर्णानंद की पर्यायें प्रगट होने की शक्ति है, इसलिये परमार्थ से चैतन्यधाम ही शाश्वत तीर्थ है; अंतर्मुख होकर उसकी यात्रा करने से भवसागर से पार हो जाते हैं।

धर्मात्मा कहता है कि—समस्त विकल्परूप बंधपद्धति को छोड़कर अपार चैतन्यतत्त्व का मैं अनुभव करता हूँ; अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भवन चैतन्यभाव द्वारा ही होता है—श्रुतज्ञान अंतर्मुख करके ऐसा अनुभव हो, वह सम्यग्दर्शन है। उसके लिये विकल्प का आधार नहीं है। अरे, निर्विकल्प चैतन्य की शांति में विकल्प का आधार मानना तो कलंक है। निर्विकल्प शांति में विकल्प का आधार नहीं है। अनुभूति के समय विकल्प का अभाव है। 'मैं साधक हूँ और सिद्ध होनेवाला हूँ'—ऐसे विकल्प भी श्रुतज्ञानी को अनुभव काल में नहीं होते। निर्विकल्प अनुभव में

मुनि को मुनिपने के विकल्प नहीं हैं और श्रावक को भी श्रावकपने के विकल्प नहीं हैं; निर्विकल्पता में दोनों समान हैं। मुनि को विशेष आनंद और विशेष स्थिरता है और गृहस्थ को कम हैं—यह बात भी यहाँ गौण है, क्योंकि 'मुझे अल्प आनंद हैं और मुनि को अधिक आनंद है'—ऐसे विकल्प भी अनुभव में नहीं हैं। इसप्रकार अनुभव में श्रुतज्ञानी को केवलज्ञानी की भाँति पक्षातिक्रांत कहा है। इसप्रकार अनुभव के लिये मंगल-उमंग से शिष्य का जो प्रश्न था, उसका उत्तर आचार्यदेव ने कहा।

दस प्रश्न

१— पंडित कौन है ?

२— मोक्ष का कारण क्या है ?

३— मोक्षमार्ग कैसा है ?

४— कर्म कैसा है ?

५— मोक्षमार्ग में काहे का निषेध है ?

६— शुभराग के आश्रय से मोक्षमार्ग क्यों नहीं होता ?

७— मिथ्यादृष्टि जीव कैसा है ?

८— सच्चा जीवन कौन जीता है ?

९— मोक्षार्थी को क्या करना योग्य है ?

१०— ज्ञानमय परिणमन का प्रारंभ कब होता है ?

उपरोक्त दस प्रश्न 'समयसार' के पुण्य-पाप अधिकार के प्रवचनों से यहाँ दिये गये हैं.... इनके उत्तर इसी अंक में अन्यत्र दिये गये हैं; उन्हें अवश्य ढूँढ़ लें।

समाचार

सोनगढ़—परमापेकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे पंचास्तिकाय तारीख २७-१०-६४ को पूर्ण हुआ और तारीख २९ से सवेरे परमात्मप्रकाश पर प्रवचन शुरु हुआ है। दोपहर को श्री समयसारजी शास्त्र में से सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार चलता है। हर साल माफिक इस साल भी भगवान महावीर निर्वाण कल्याणक जयन्ती—पावापुरी जल मंदिर की सुंदर रचना, निर्वाण लाडू चढ़ाना, बृ० निर्वाण पूजा-भक्तिसहित-बड़े उत्साह सहित मनाई गई।

विशेष समाचार

सागर निवासी सेठ श्री भगवानदास शोभालालजी ने अपने को धर्म साधनार्थ मकान बनाया है, वास्तु के समय मध्यप्रदेश से बड़ी संख्या में साधर्मियों को बुलाये, भादवा सुदी २ को बड़ा उत्सव मनाया, दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर में बैंडबाजों के साथ जाकर जिनवाणी माता-शास्त्रजी को पालकी में विराजमान करके जुलूस के साथ बंगले में सभा मंडप में विराजमान किये। पूज्य कानजीस्वामी का वहाँ श्री तरणतारण स्वामी कृत श्रावकाचार पर एक घंटा प्रवचन हुआ, शाम को श्री जिनेन्द्र भगवान को मंडप में विराजमान करके सामूहिक भक्ति हुई, स्वामीजी भी उपस्थित थे।

समाज भूषण सेठ श्री भगवानदासजी के जन्म जयन्ती के अवसर पर बड़ी संख्या में परिवार समूह सागर से सोनगढ़ आये, आसोज सुदी ६ तारीख ११-१०-६४ के दिन ६६ वीं जन्म-जयन्ती मनाई, दूसरे दिन सभा मंडप में पूज्य स्वामीजी द्वारा श्री तारणस्वामी कृत श्रावकाचार पर प्रवचन हुआ, शाम को हरिषेण चक्रवर्ती का धर्म प्रभावना दर्शक अति भाववाही शैली से संवाद-ड्रामा हुआ जो तत्त्वज्ञान की चर्चा, मुनि भक्ति आदि खास उत्साहमय वर्णन से भरपूर था।

नया प्रकाशन

द्रव्य संग्रह

(सुबोधिनी टीका)

पृष्ठ २०६, मूल्य ८५ पैसे, पोस्टेज ३० पैसे। श्री नेमिचंद्र सिद्धांतिदेव कृत यह ग्रंथ प्रायः प्रत्येक जैन पाठशालाओं की पाठय पुस्तक है। जैनधर्म संबंधी तत्त्वज्ञान में प्रवेश पाने के इच्छुक के सामने ऐसी पुस्तक दी जाये जो पढ़े उसे खास संतोष हो। ऐसी बारंबार माँग आने से हमारे आदरणीय विद्वान प्रमुख श्री रामजीभाई ने भावभासनरूप उत्तम शास्त्राभ्यास के निचोड़रूप गागर में सागर समान इस ग्रंथ पर नयविभाग और शास्त्राधार से संकलन करके धर्म जिज्ञासुओं के प्रति महान उपकार किया है। जिज्ञासुओं को यथार्थ समाधान देनेवाला इस ग्रंथ का आत्महितार्थ पठन और प्रचार होना चाहिये।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मप्रसिद्धि

श्री समयसारजी शास्त्र में वर्णित ४७ शक्तियों के ऊपर पूज्य श्री कानजी स्वामी के विस्तृत प्रवचनों का संग्रह, बढ़िया पुष्ट कागज, सुंदर जिल्द और सुंदर छपाई, पृष्ठ संख्या ६२०, घटाया हुआ मूल्य मात्र ४) रुपये। थोक लेनेवालों को १२) परसेंट कमीशन। यह ग्रंथ श्री सेठी ग्रंथमाला बंबई की ओर से छपा है।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

— नया प्रकाशन —

श्री समयसारजी परम अध्यात्म-शास्त्र

(तीसरी आवृत्ति)

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्र, श्री अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़।

यह अद्वितीय जगतचक्षु समान आध्यात्मिक ग्रन्थाधिराज है, परिभाषण पद्धति से जो सूत्र रचना हो वह सर्वोत्तम मानी जाती है जैसी मूल सूत्रों की सर्वोत्तम रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की है, ठीक वैसी ही आत्मख्याति नामक टीका सर्वोत्तम है, वीतरागता, और स्वतंत्रता ग्रहण करने की रुचि से पढ़ने से उसका रसास्वाद आता है।

जिसमें ज्ञानी-अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेदविज्ञान, नवतत्त्वों का रहस्य खोलनेवाले सात अधिकार, कर्ताकर्म, सर्वविशुद्धज्ञान, अनेकांत, ४७ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्यसाधक भाव का स्वरूप आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर सातिशय प्रचंड निर्मल तत्त्वज्ञान के धारक अजोड़ महर्षि श्री अमृतचंद्राचार्य की सर्वोत्तम संस्कृत टीका है। अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद, तीसरी आवृत्ति, इस ग्रंथ में गाथाएँ लाल स्याही से छपी हैं, कुछ गाथाएँ सुनहरी कलर में हैं। बढ़िया कागज पर सुंदर ढंग से छपने पर भी मूल्य लागत से भी बहुत कम रखा है, सभी जिज्ञासु यथार्थतया लाभ लेवें इसी भावनावश इस ग्रंथाधिराज का मूल्य मात्र ५) रुपया रखा है। पोस्टेजादि अलग। पृष्ठ संख्या ६४१ बड़े आकार की है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[नोट—यह शास्त्र बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, भोपाल, सागर, उज्जैन, विदिशा, लश्कर, इन्दौर, उदयपुर, गुना, अशोकनगर, मदनगंज आदि गाँवों में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा प्राप्त हो सकेंगे।]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।